



अध्यात्म के झरोखे से

आचार्य पद्मशागरसूरि

अध्यात्म के झरोखे से

आचार्य श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. के
चिंतन की झलकियाँ

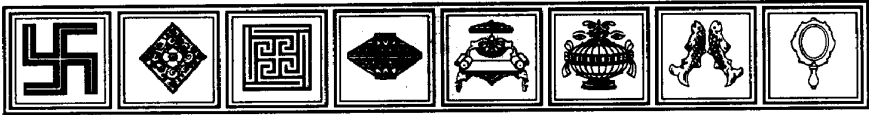


श्री अष्टमंगल फाउन्डेशन - कोबा

जिनशासन-प्रभावक

गुरु-परम्परा

श्रमण भगवान महावीर - आर्य सुधर्मास्वामी
 आर्य जम्बुस्वामि के उत्कृष्ट उत्तराधिकारी
 अकबर प्रतिबोधक, जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी म.सा.की
 पट्ट परम्परागत नेमि-रवि-सुखसागरजी के शिष्य
 विश्व की विरल विभूति, स्व-पर शास्त्र विशारद
 योगनिष्ठ आचार्यदेवेश श्री बुद्धिसागरसूरीश्वरजी महाराज,
 प्रशांतमूर्ति आचार्यदेव श्री कीर्तिसागरसूरीश्वरजी महाराज,
 संयमैकलक्षी आचार्यदेव श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी महाराज,
 परमात्म भक्ति रसिक आचार्यदेव श्री कल्याणसागरसूरीश्वरजी महाराज,
 राष्ट्रसन्त श्रुतसमुद्धारक, आचार्यदेव श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज,
 ज्योतिर्विद् पंन्यासश्री अरुणोदयसागरजी महाराज



श्री अष्टमंगल फाउन्डेशन - कोबा

2 - अध्यात्म के झरोखे से

एक कदम मेरे साथ
चल के तो देखो
आचार्य पद्मसागरसूरि

अध्यात्म के क्षणेषु से

संयोजन एवं सम्पादन
साहित्यरसिक, ज्योतिषाचार्य
देवेन्द्रसागरजी गणि

संयोजन एवं सम्पादन — सुविहित पट्टधर साहित्यरसिक
श्री देवेन्द्रसागरजीगणि म.सा.
प्रकाशक — श्री अष्टमंगल फाउन्डेशन
संस्करण — फरवरी २००३
मूल्य — रू. ५१/-

ADHYĀTMA KE ZAROKHE SE
A collection of Articles

written by

Acharya Shri Padmasagarsuriji

Compiler & Editor

Shri Devendrasagarji Gani

Price : 51/-

टाइपिंग-मुद्रण —

श्री माणिभद्र प्रिन्टर्स, अहमदाबाद

Ph. : 079 - 27642464, 27640750

प्राप्ति स्थान —

श्रुत सरिता (जैन बुक स्टॉल)

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

कोबा, गांधीनगर-३८२००९ (गूजरात)

www.kobatirth.org

kendra@kobatirth.org

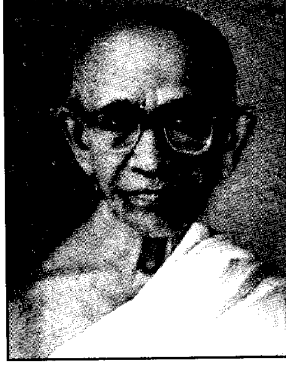
Ph. : 079 - 23276204, 23276205
23276252







योगनिष्ठ आचार्यदेव
श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी म.सा.



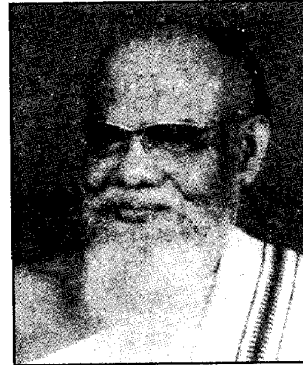
प्रशमरस पयोनिधि आचार्यदेव
श्रीमद् कीर्तिसागरसूरीश्वरजी म.सा.



कृपावत्सल गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् कैलाससागरसूरीश्वरजी म.सा.



शिष्पुलास्त्रविद् आचार्यदेव
श्री कल्याणसागरसूरीश्वरजी म.सा.



बोरीज तीर्थोद्धारक आचार्यदेव
श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा.

शौजन्य स्मरण



भोगीलाल कान्तिलाल महेता



जशवंतीबेन भोगीलाल महेता

माता-पिता के सुकृत के अनुमोदनार्थ

पुत्र संजय भोगीलाल महेता
पुत्र हर्षव भोगीलाल महेता

पुत्रवधू मीना संजय
पुत्रवधू दीप्ति हर्षव

SANJAY TRADING CO.

161/1, Mahatma Gandhi Road,
Calcutta-7

भूमिका

अध्यात्म की सम्पूर्ण योजना, परिकल्पना, व्यवस्था का उद्देश्य है आत्मा, चेतना का आमूल परिवर्तन हो। सर्वभूत मैत्री का प्रायोगिक विधान हो। अध्यात्म जीवन का मूलभूत आधार है। अध्यात्म के अभाव में जीवन का कोई मूल्य और महत्त्व नहीं है।

आत्मदर्शन के लिए अध्यात्म की आवश्यकता है और आत्मा का दर्शन ही, अध्ययन ही -आत्मदर्शन है। आज के तथाकथित विकास के इस भौतिकतावादी युग में व्यक्ति आत्मचिंतन, आत्मबोध को नकार रहा है, यही एक कारण है कि वह विविध समस्याओं से संत्रस्त है। भौतिक साधन भी जीवन में आवश्यक होते हैं इस तथ्य को एकांततः नकारा नहीं जा सकता पर उन्हें ही सबकुछ मान जानकर उन्हीं में अपने आपको झोंक देना, स्वयं के साथ स्वयं के द्वारा अराजकतापूर्ण दृष्टिकोण है। इस तथ्य को नजरंदाज नहीं करना चाहिए कि भौतिक साधन सुविधा दे सकते हैं पर शांति नहीं दे सकते। सच्चे शाश्वत सुख और शान्ति के लिए व्यक्ति को अपने जीवन में धर्म एवं अध्यात्म की साधना-आराधना को प्रमुखता देनी ही पड़ेगी। तनावमुक्ति एवं आत्मोन्नयन के लिए अध्यात्म का औचित्य असंदिग्ध है।

अध्यात्म का क्षेत्र स्वानुभूति, निजानुभूति का क्षेत्र है। इस अनुभूति के लिए भेद विज्ञान की प्रक्रिया आवश्यक है। अनादि काल से संश्लिष्ट, जीव एवं पुद्गल द्रव्य की संयोगी पर्याय में जब तक शुद्ध आत्मा के ज्ञायक स्वभाव का पृथक से अनुभव नहीं होता, तब तक अध्यात्म के पर्यावरण में जीव का प्रवेश नहीं हो सकता। अतः आध्यात्मिक विकास का प्रथम घटक आत्मबोध है। यही इस विकास की नींव है।

आत्मा ही एकमेव साध्य है। आत्मा की पहचान न सिर्फ आत्मा की पहचान है, किन्तु आत्मेतर की पहचान भी है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म सब इसी उत्स से प्रवाहित हुआ है

‘जे एगे जाणेइ ते सव्वे जाणइ’ अथवा एकै साथे सब सधे’ एक आत्मा को जान लेने या एक आत्मा का साध लेने पर, पहचान लेने पर सब कुछ ज्ञात सिद्ध हो जाता है। इस सूत्र को लक्ष्य में रखकर विशुद्ध अनुष्ठानों में आगे बढ़ना चाहिए।

आत्मबोध के बाद हेय, ज्ञेय और उपादेय स्पष्ट हो जाता है और इस सत्व प्रतीति से अकरणीय से सहज रूप से संबंध विच्छेद हो जाता है। प्रस्तुत लेखों का संकलन “अध्यात्म के झरोखे से” में जिन लेखों का समावेश किया है, वह अनायोजित है। मेरे मन में सहज रूप से कुछ उभरता गया, उसे मैंने उसी रूप से सहजतापूर्वक अंकित कर दिया। उद्देश्य यह नहीं है कि लेखों के माध्यम से मैं विद्वत्ता या पाण्डित्य प्रकट करूं। साधना के अन्तस्तल में जो रहस्य मैं पाता हूँ वे मुझ तक ही सीमित न रहे, यही मेरी भावना रहती है। इसी भावना के बल पर आपके हृदय की, आपके अन्तर की तहों को उघाड़ने का उपक्रम है “अध्यात्म के झरोखे से” के ये लेख।

एक बात और है कि ‘अध्यात्म के अंचल में’ कृति एक दर्पण है। यह दर्पण कुछ भी दिखायेगा नहीं। इस में आपको ही देखना है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की दीवारों को तोड़ कर दर्पण के सामने आंखें खोलिये, बस फिर वही दिखेगा, जिसको देखने के लिए जन्मों-जन्मों से आपकी आंखें प्यासी थी। कोई भी पुस्तक, ग्रन्थ अथवा शास्त्र सहायक बन सकता है पर निर्णायक नहीं बन सकता। “अप्प दीवो भव”—अपना दीप आप स्वयं प्रज्वलित करो। “अध्यात्म के झरोखे से” स्वयं आप अपने आप से जुड़ो, अपने अन्तर हृदय में झाँको और अपना मार्ग निष्कंटक करो ऐसी भावना...

अपने दिल में डूबकर, पा जा सुरागे जिंदगी ।

तू अगर मेरा न बनता है न बन - अपना तो बन ॥

— आचार्य पद्मसागरसूरि

प्रकाशकीय

अध्यात्म मानव को वो सन्मार्ग दिखाता है जिससे वह जीवनमुक्ति की ओर अग्रसर हो सकता है। जीवन का सौन्दर्य पाकर मनुष्य भव का भरपूर आनन्द उठा सकता है। जैन धर्म जीव मात्र के लिए सुख-शान्ति की चाहना करता है। 'शिवमस्तु सर्व जगतः' की उत्कृष्ट भावना के साथ मन वचन काया से प्रयत्नशील होने की प्रशस्त प्रेरणा देता है। मनुष्य जीवन के लक्ष्य को प्रगट कर चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु अध्यात्म मार्ग रूपी साधन हमारे सामने प्रस्तुत करता है। हर व्यक्ति इस की उपलब्धि कर सकता है। भगवान महावीरदेव के उपदेश इसी अध्यात्म को उजागर करते हैं।

परम पूज्य महान शासन प्रभावक, श्रुतोद्धारक, राष्ट्रसन्त, आचार्य प्रवर श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज श्री के श्रीमुख से निसृत जन जन को पावन करने वाली जिनवाली सचमुच में अमृतवाणी है। आचार्यश्री के जीवनीय प्रवचन आज तक हजारों-लाखों जीवों के जीवन में क्रान्तिकारी सिद्ध हुए हैं। अध्यात्म से अरुचि रखनेवाले भी आपके सरल वचनामृतों से प्रभावित हुए हैं। सिद्ध प्रवचनी के अमोघ वचन कभी निष्फल नहीं जाते इसी श्रद्धा से इस पुस्तक में पूज्य आचार्यश्री के प्रवचनों के मोती संकलित किये गये हैं।

पूज्य गणिवर्य देवेन्द्रसागरजी महाराज की एक पहचान यह है कि पूज्यश्री के प्रवचनों को आम जनता तक पहुंचाना। जिस अध्यात्म से सभी का आत्मकल्याण हो उसी का प्रचार-प्रसार करना। आपकी सत्प्रेरणा से अष्टमंगल फाउन्डेशन ट्रस्ट की स्थापना की गई। इस माध्यम से साधारण व्यक्ति को भी वही लाभ होता है। जो एक श्रीमन्त को होता है। जिनवाणी के उत्कृष्ट संपादन द्वारा अपने साहित्य की सेवा तो की ही है परन्तु जन सामान्य के लिए भी जीवनोन्नति दायक योगदान किया है।

गणिश्री ने सत्साहित्य का संकलन संपादन कर अनेक पुस्तकों का सर्जन कर घर घर में स्वाध्याय का यज्ञ प्रज्वलित किया है, इसी शृंखला में एक और कड़ी इस प्रकाशन से जुड़ती है। पाठकों को गणिश्री का यह उपहार भी पूर्व की भाँति पसंद आयेगा। सरल, सुबोध भाषा-शैली में प्रस्तुत इस ग्रन्थ में मानव को अध्यात्म मार्ग पर कदम रखने की सोच समझ प्राप्त होगी। श्री अष्टमंगल फाउन्डेशन के अन्य प्रकाशनों की तरह इस “अध्यात्म के झरोखे से” पुस्तक द्वारा मुमुक्षु एवं वाचक जिन हित वचन ग्रहण कर परमानंद की प्राप्ति करेंगे यही मंगल कामना करते हैं।

इस ग्रंथ के प्रकाशन हेतु कोलकाता निवासी श्री भोगीलाल कान्तिलाल महेता की ओर से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक को ज्ञानभंडारों में भेट देने हेतु श्रेष्ठ नवलचंद्र सुव्रतचंद्र देवस्थान पेढी (पाली, मारवाड) के ज्ञान खाते से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए हम सभी के आभारी हैं। साथ ही इस पावन प्रसंग पर आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर कोबा (गांधीनगर) के सहनिर्देशक द्रय पं. श्री मनोजभाई र. जैन व डॉ. बालाजी गणोरकर को भी हम कैसे भूल सकते हैं।

- श्री अष्टमंगल फाउन्डेशन

कृति और कृतिकार

जैन संस्कृति और साहित्य के दिग्गज रक्षक तथा कला क्षेत्र एवं अन्य विधाओं के मर्मज्ञ, शासनप्रभावक, क्रांतिकारी चिन्तक, कुशल प्रवचनकार आचार्यश्री पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज का व्यक्तित्व बहुआयामी है। वे जितने सहज हैं, उतने ही आदर्श और यथार्थ के समन्वय साधक हैं। वे स्वयं गुणी हैं, गुणज्ञ हैं और गुणानुरागी भी हैं।

प्रस्तुत कृति “अध्यात्म के झरोखे से” के प्रत्येक पृष्ठ पर पूज्य आचार्यश्री द्वारा लिखित उद्बोधक और अन्तः-स्पर्शी आध्यात्मिक विकास में सहायक आलेखों का एक दिव्य प्रकाश झिलमिलाता सा मिलेगा, जिसकी सुहावनी स्वर्ण शक्ति जागृति का सन्देश सुनाती है। प्रगति का पंथ दिखाती है, स्व में स्व की जागृति, क्रान्ति का शंखनाद करती हुई मानव आत्मा को ऊर्जा एवं स्फूर्ति से भर देती है। विषय गंभीर, भाषा सुबोध, शैली रोचक और प्रवाहपूर्ण, यह विशेषता है “अध्यात्म के झरोखे से” के इन लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण आलेखों की।

“अध्यात्म के झरोखे से” कृति के स्वाध्याय, चिंतन से पाठक वर्ग को चिन्तन-मनन की अच्छी, सामग्री प्राप्त होगी, मन की बुभुक्षा मिटेगी... !

अध्यात्म योगी महाप्राण आचार्य श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज एक ऐसी अस्तित्व धारा है जो समय के गगन पर उगा नया सूर्य है। गगन भी नया और सूर्य भी नया। उनकी भाषा और उनकी अभिव्यक्ति होठों से निःसृत नहीं होती, उसमें हृदय का अमृत घुला होता है।

शब्द तो सारे कोषों में और ग्रन्थों के अन्दर होते हैं । मनुष्य की तपस्या उनमें अर्थ और ताकत भर देती है । एक ही शब्द का इस्तेमाल हम सभी करते हैं लेकिन राजा के मुख से निःसृत होने पर वह राजाज्ञा बन जाती है, साधु की वाणी उसने धर्माज्ञा बना देती है, वैज्ञानिक की शब्दावली उसे विश्वजनीन संदर्भ दे देती है । एक साधु का अनुभव जगत-अन्तर्जगत की यात्रा का होता है । द ग्रेटेस्ट इस दी जर्नी विदीन” कहकर अन्तर्यात्रा के महत्त्व को साधु जगत ने सराहा है ।

नितांत पारदर्शी, सत्यान्वेषी, आत्मबल सम्पन्न और पवित्र आत्मा को ही अन्तर्नाद सुनाई देता है । यह कभी गांधीजी ने अपनी अनुभव यात्रा के साररूप में कहा था । आज भौतिक कोलाहल के इस विलासमय माहौल में अन्तर्वीणा के स्वरो को सुनने की योग्यता हमारी रह ही कहाँ गई है ? ऐसी विषम परिस्थिति में महामानव आचार्य श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी एक तीव्र प्रकाश शलाका बन हमारे बीच मौजूद हैं एवं जीवन को जीवन के ढंग से जीने की जो दिशा दे रहे हैं, यह हम सबके लिए अहोभाग्य है ।

उनकी महत्त्वपूर्ण कृति “अध्यात्म के झरोखे से” देखने पढ़ने का मुझे अवसर मिला. एक मनीषी, लेखक, पारंगत वक्ता, उत्कृष्ट मनीषी एवं स्वस्थ विचारक चिन्तक के नाते उनकी मान्यता निश्चित ही किसी घेरे में आबद्ध नहीं की जा सकती । उनकी रचना का हार्द मनुष्य की चेतना है । धर्माचरण से युक्त, शुद्ध, बुद्ध मनुष्य उनकी चिन्ता और चिंतन का विषय है । उन्होंने मानव धर्म, आत्मधर्म को सर्वोपरि धर्म माना है ।

उनके लेखन में जो पारदर्शिता दिखाई देती है, वह उनके स्वस्थ भाव की द्योतक है ।

अध्यात्म से संबंधित कई छोटे-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है, पर आचार्यदेव की प्रस्तुत कृति “अध्यात्म के झरोखे से” का अलग महत्त्व है । अत्यन्त सरल सहज एक सुबोध भाषा शैली में सामग्री का इस तरह से संयोजन किया गया है कि कृति हर एक के लिए उपयोगी बन सके । मेरी अपनी मान्यता है कि ऐसी रचनाओं का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होना चाहिए, जिससे अधिकाधिक मुमुक्षु एवं भव्य जीव लाभान्वित हो सके ।

संपादन एवं अनुवाद की प्रस्तुति में मूल ग्रंथ के भावों को यथावत् हिन्दी भाषा में रखने का भरचक प्रयास किया है । प्रस्तुत प्रकाशन में मेरे शिष्य मुनिश्री महापद्मसागरजी का भी योगदान प्रशंसनीय है ।

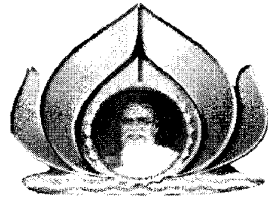
जिनाज्ञा के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो तो **मिच्छा मि दुक्कडम्** ।

— देवेन्द्रसागर गणि

अनुक्रम

1. अध्यात्म साधना में योग का सहयोग	17
2. आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए सम्यक् चरित्र	25
3. आध्यात्मिक उत्क्रान्ति भावात्मक निर्मलता पर निर्भर	31
4. पुनर्जन्म एवं परामनोविज्ञान की दृष्टि में आत्मा	35
5. निजत्व की अनुभूति का प्रयास : अध्यात्म	43
6. चेतना की सर्वोच्च अकम्प अवस्था : ध्यान	51
7. मनुष्य विवेक से चले, विवेक से बढ़े	61
8. धर्म : एक आदर्श जीवन शैली	69
9. अध्यात्म-साधना का प्राणतत्त्व : सामायिक	75
10. आध्यात्मिक विकास की अभिक्रियाएँ	81
11. सतत जागृति : जीवन की सही समझ	87
12. प्रशान्ति का आधार : धर्म	93
13. कामनामुक्ति का उपाय : साक्षीभाव	99
14. अध्यात्म : अभय का द्वार	105
15. पर्यावरण का अर्थ : जीवसृष्टि एवं वातावरण की पारस्परिकता	111
16. मन में, स्वच्छ हवाओं को प्रवेश दें	117
17. संयम का अर्थ है - आध्यात्मिक शक्ति	123
18. धर्म का विशाल दृष्टिकोण	129
19. आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्व मीमांसा	135
20. अध्यात्म का स्रोत मन इन्द्रियाँ नहीं : आत्मा है	143
21. आध्यात्मिक उन्नयन में सहायक तथ्य	149
22. आध्यात्मिक विकास क्रम के चौदह सोपान	155
23. अध्यात्म का प्राणतत्त्व : रागद्वेष एवं कषाय से मुक्ति	167
24. अध्यात्म का आधार : अन्तरशुद्धि	173
25. आध्यात्मिक दृष्टि से संयम और तप	177
26. अध्यात्म की उपेक्षा : तनाव का कारण	181
27. अध्यात्म विकास के दो पहलू : व्यवहार और निश्चय	187

— अध्यात्म साधना में योग का सहयोग



1 - अध्यात्म साधना में योग का सहयोग

आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए साधक के जीवन में योग साधना अत्यावश्यक है। अध्यात्म-साधना में योग का सहयोग असंदिग्ध है। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि योग के अभाव में अध्यात्म के क्षेत्र में बढ़नेवाला पथिक गड़बड़ा जाता है। योग प्रवक्ताओं ने स्पष्टतः संसूचन किया कि आत्मा को परमात्मास्वरूप तक ले जाने में योग का सहयोग कारगर होता है। योग साधक को 'स्व' में स्थित कर देता है। योग एकाग्रता साधने में सहायक है। योग से जीवन को सार्थक आयाम उपलब्ध होता है। योग, अध्यात्म सिद्धि का श्रेष्ठतम साधन है। योग, चित्तवृत्तियों का निरोध है, मन का स्थैर्य है। अध्यात्म साधना में योग का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है।

जोए वह माणस्स, संसारो अ इवत ई ।

- योग-युक्त साधक संसार सागर को पार कर जाता है। योग किसे कहते हैं, इस बात को पहले समझ लेना आवश्यक है। योग अर्थात् मिलन, जोड़ एक संपूर्ण स्थिति। यह साधारण से साधारण व्यवहार से लेकर अध्यात्म साधना तक में प्रयुक्त होता है। जैसे-जैसे इसका स्तर बढ़ता है, वैसे-वैसे इसके उद्देश्यपूर्ति में भी उच्चता आती है। अध्यात्म साधना में एक परिपूर्णता आती-जाती है। गीता के शब्दों में कर्म करने की कुशलता योग है। गीता - फलासक्ति के

परित्याग की बात कहती है और यह फल परित्याग अनासक्ति योग है। योग ने देह में विदेह और अणु में महान तत्त्व की प्रतिष्ठा कर उच्चता दी है। योगीजनों का आनंद स्थायी होता है। वह अन्तर के समस्त द्वार खोल देता है।

योग के क्षेत्र में जो प्रवृत्त है, उस व्यक्ति का मन स्वस्थ और प्रसन्नता से परिपूर्ण होता है। जैसे योगी के लिए सुख दुःख जैसी कोई अनिवार्यता नहीं होती वह स्थितप्रज्ञ होता है। जैन दर्शन में योग, ध्यान आदि को बुनियादी महत्त्व प्राप्त है। इसमें उसके कई रूप हैं। संवर, निर्जरा, संयम सभी में योग की अवस्थिति है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है - मन, वचन और काया इस तरह तीन योग है। वाहन को वहन करते हुए बैल अरण्य लांघता है, जैसे ही - योग को वहन करने के बाद साधक संसार के अरण्य को सुगमता से पार करता है। बाहर की ओर जो शक्ति बिखरी है, वह एक ध्येय पर स्थिर होती है तो योग कहलाती है। मन की चंचलता को योगीजन वश में कर लेते हैं। योग सूत्र की परिभाषा के अनुसार - “योगश्चित्तवृत्ति निरोध अर्थात् आंतरिक चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। चित्तवृत्तियों को अनियंत्रित रखकर चलने का अर्थ व्यवहार और परमार्थ के क्षेत्र में पिछड़ना है। आज अधिकांश समस्याएं जो जीवन के आंगन में परिलक्षित होती हैं उनका प्रमुख कारण एक यह भी है कि व्यक्ति का उसका अपना स्वयं पर नियंत्रण नहीं है।

चित्तवृत्तियाँ, विषाद, निर्दय विचार, व्यर्थ कल्पना जाल, भटकाव, अपवित्र विचार, द्वेष या अनिष्ट चिंतन से दूषित होती है। दोषों की कालिमा अपवित्रता है। अपवित्रता से नैतिकता एवं आध्यात्मिकता ध्वस्त होती है। भटकाव को सक्रियता मिलती है और यह सक्रियता अनेक प्रकार की उलझनों को निर्मित करती है। अध्यात्म के क्षेत्र में गति-प्रगति के लिए प्राथमिक बात मन की विकृतियों का परिहार है। मन की विकृतियों के परिहार आ जाती है। असत्य भाषण, निंदा, कटुवचन, स्वातम् प्रशंसा, अनावश्यक बातें, आगमों के लिए मिथ्याप्ररूपणा ये वचन के क्षेत्र हैं। सत्य से परे असत्य कथन अनेक प्रकार की विडम्बनाओं को जन्म देता है। निंदा द्वारा स्वयं किसी के प्रति दुर्भाव रखने की क्रिया को विस्तार दिया जाता है। किसी के प्रति अन्तर्गलरूप से कटुवचन कहने में व्यक्ति अपनी कुशलता मानता है, परन्तु वचन उस

विष के समान है जो जिह्वा पर आते ही व्यक्ति को प्रभावित करता है। कटुता की तिक्तता जितना अन्य व्यक्ति को आघात पहुंचाती है, वही उस व्यक्ति को भी पीड़ा देती है। स्वात्म प्रशंसा अपनी बड़ाई के द्वारा व्यक्ति जो कुछ वह है, उससे अधिक दर्शनी की चेष्टा करता है। व्यर्थ की बातों में कोई अर्थ खोजना अपने वचन को निरर्थक करना है। कूड़े का ढेर इकट्ठा करने से सड़ांध ही उपलब्ध होती है।

व्यक्ति, जो अपने स्वार्थ को सर्वोपरि मानता है, वह आस-कथन को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करता है। जो सत्य है उसे ढांप कर वह मिथ्या अवधारणाओं को उभार देता है। शास्त्रों को इस प्रकार मिथ्यारूप में प्रस्तुत करने से पूरी मानवता के प्रति एक कुचेष्टा का अवसर आ जाता है। आज आगम के तथ्यों को सम्यक्प्रकार से नहीं समझकर जिस तरह की विपरीत प्ररूपणाएं तथाकथित क्रान्ति एवं विकास के नाम पर की जा रही है, स्पष्टतः वीतराग संस्कृति पर प्रहार है, जो स्पष्टतः अविवेकपूर्ण है।

कायिक योग के दुरुपयोग के नाते भी - विकृतियाँ उपजती है जैसे - किसी को पीड़ा देना, व्यक्तिवाद, चौर्य कर्म, दंभ, व्यर्थ चेष्टाएं आदि जो अध्यात्म में बाधक होती हैं। जितना व्यक्ति सचेष्ट रहता है, उतना ही यथेष्ट का वरण करता है। विकृतियों के निवारण के लिए आत्म-निरीक्षण एक श्रेष्ठ साधन है। वह सत्कर्म तथा दुष्कर्म के भेद को परखे। सत्कर्म की सततता के लिए वह आंतरिक सजगता अर्जित करे। दोष लघु से लघु स्वरूप में भी हानिकारक है।

वस्तुतः योग निष्ठता ही जीवन निष्ठता है। योग के कर्म से ही मानव अपने संपूर्ण विस्तार को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर देता है और उसी बिन्दु से उसकी 'स्व' की यात्रा आरंभ हो जाती है। यात्रा के इस क्रम में वह जीवन की चाह को पा लेता है। योगीजन आलोक में प्रसरण करते हैं और अपने मन की अनंत जिज्ञासाओं को लेकर वे आलोक के प्रकाश के अन्तिम बिन्दु की खोज करने में संलग्न हो जाते हैं। यह एक ऐसी यात्रा है जिससे जरा सी भी थकान का अनुभव नहीं होता है।

योग का कार्य ही है - दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि दूर करे और सद्गुण और सद्भाव लाए। योग, मनुष्य के अंतःकरण की वह स्फूर्ति है जो उसे सांसारिक आसक्तिपूर्ण

लगावों से बेलाग बचाये रखने में सहयोग करता है। सचमुच योग ऐसा योग है जो मनुष्य को हर अभियोग से परे करता है। वह एक ऐसा अनुयोग है, जो मनुष्य के मन में विशुद्धि की प्रतिस्थापना करता है। योग-दिव्यता है, जो मनुष्य को उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति प्रदान करती है। योग, गरिमा है, जो अनंत शक्ति का वहन करने की क्षमता देता है। योग, मिलन है, जो किसी भी प्रकार के सम्मिलन का चरम-स्वरूप है। योग, समाधि है, जो वह स्थैर्य देती है कि सारे क्लेश उस स्थिति में समाप्त हो जाते हैं। योग, समाधान है, जो प्रकृति के रहस्य को प्रकट करती है, चेतन स्वरूप को उजागर करता है।

इसी तरह व्याधि उपाधि, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व योग में बाधक तत्त्व हैं। इन बाधक तत्त्वों को रोकने पर अध्यात्म में अवरोध की संभावनाएं नहीं रहती। कुल मिलाकर योग अनियंत्रण जीव के लिए दुःखद है एवं योग नियंत्रण सुखद है। मन वचन एवं काया की क्रियाशीलता योग है। क्रियाशीलता सदैव समुचित दिशा में रहनी चाहिए।

मनोविकार द्वारा होनेवाले 'योग' अथवा 'कम्पन' ही कर्मों के कर्ता-धर्ता तथा विधाता है। इस प्रकार कर्म बन्ध हेतुओं के भेदों में भिन्न-भिन्न संकेत मिलते हैं, पर योग का उल्लेख सर्वत्र है। समवायांगसूत्र में कषाय और योग इन दो को ही हेतु माना है। भगवती सूत्र में प्रमाद एवं योग का संकेत है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार कर्म बन्धन के संक्षेप शैली से कषाय एवं योग इस तरह दो हेतु है, जबकि विस्तार शैली से मिथ्यात्व, अत्रत, प्रमाद, कषाय और योग पांच कारण है। कर्म-बंध हेतुओं के समग्र विवेचन, विश्लेषण का हार्द एवं निष्कर्ष यह है कि आश्रव बन्ध का कारण है और चेतना तथा सूक्ष्मतम पौद्गलिक कर्णों का पारस्परिक राग द्वेष रूप, कषाय एवं योग के सहयोग से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। मिथ्यात्व आदि आश्रव 'प्रत्यय' अर्थात् भावाश्रव है और योग एवं कषाय के विस्तार है।

मन-शरीर इन्द्रियों का शासक है। वचन-अन्तस्थभावों की अभिव्यंजना का माध्यम है। शरीर-क्रिया शक्ति का केन्द्र है। अध्यात्म रहस्य में स्पष्ट कहा गया है

अध्यात्म साधना में योग का सहयोग – 21

कि आत्मशक्ति की प्रतीति और उसके समुद्घाटन में योग का सहयोग निर्विवाद है। योग-साधनों को सही-सही रूप से समझा जाए एवं समाधि के साधनों को बिना प्रमाद के ठीक तरह से जीवन में प्रतिस्थापित किये जाए ताकि अनावश्यक, परिहेय का उन्मूलन हो सके।

प्रस्तुत संदर्भ के अंतर्गत पुनः एक बात स्पष्ट करना चाहता हूँ कि कर्मबन्ध का प्रमुख कारण कषाय है, स्वतः सक्रिय नहीं होता, उसे अभिव्यक्त करने का साधन योग है। मन, वचन और काया - इन तीनों योगों में से किसी एक योग की सहायता के बिना कषाय की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। अतः यह जानना आवश्यक है कि इन तीनों आधारों में से मुख्य आधार कौन सा है? जैन दर्शन एवं बौद्धिक दर्शन आदि ने इसमें मन को कर्मबन्धन का प्रबल कारण माना है। इसी के सहयोग से मन, वचन और काया की प्रवृत्ति में शुद्धता एवं मलीनता आती है। गीता में कहा गया है - यह मन बड़ा चंचल है इसका निरोध करना सरल नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि इसका निरोध होने पर ही मुक्ति होती है। जैनागमों में भी मन को प्रमुख माना है। कर्म-बंध के लिए वचन और शरीर की क्रिया के स्थान में जीव के परिणामों-आंतरिक भावों या मानसिक चिन्तन को कर्मबंध का प्रमुख कारण माना है। जैन दर्शन की तरह उपनिषदों में भी मन को शुद्ध और अशुद्ध दो तरह का माना है। काम संकल्परूप मन को अशुद्ध और उससे रहित मन को शुद्ध कहा गया है। अशुद्ध मन संसार का कारण है और शुद्ध मन मुक्ति का। जैन विचारकों ने कहा - जबतक कषाय का क्षय नहीं हो जाता, तबतक अशुद्ध मन रहता है और बारहवें गुण स्थान में और तेरहवें गुण स्थान में शुद्ध मन की प्रवृत्ति होती है और चौदहवें गुण स्थान में पहुँचते ही केवली सर्व प्रथम मन योग का निरोध करते हैं, उसके बाद वचन और काय योग का निरोध करते हैं।

तथ्य यह है - इस तरह तीनों योगों में मन योग को सबसे प्रबल माना है। उसका निरोध होने पर वचन और काय योग का निरोध सहज ही हो जाता है। जबतक मन का निरोध नहीं होता, तबतक वचन और काय योग का निरोध नहीं

होता, क्योंकि इन दोनों योगों का संचालक मन है। उस पर विजय पा लेने पर सब पर विजय हो जाती है। आध्यात्मिक महाकवि आनंदघनजी ने भगवान कुन्थुनाथ की प्रार्थना करते हुए कहा है -

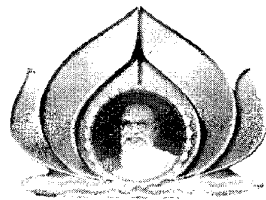
**“मन जीत्युं ते सगली जीत्युं ऐ बात नहीं खोटी,
एस कहे मैं जीत्युं ते नवी मानुं, एही बात छे कई मोटी ।
हो कुंथुजिन ! मनड़ो किम ही न वांझे ॥”**

इससे यह स्पष्ट हो गया कि कर्मबंध अथवा मुक्ति, आध्यात्मिक प्रगति और अवनति में प्रबल कारण मन है। मन योग का योग साधना द्वारा निरोध कर आध्यात्मिक विकास में आने वाले अवरोध को समाप्त करने का अभ्यास रहना चाहिए।





२_ आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए सम्यक् चरित्र



2_ आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए सम्यक् चरित्र

आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए सम्यक् चरित्र अनिवार्य है। केवल श्रद्धा या ज्ञान अधूरा पक्ष है। मात्र श्रद्धा पर ज्ञान से काम नहीं चलता, उसके लिए आचरण आवश्यक है। जिज्ञासु द्वारा जब यह पूछा गया कि अंग सूत्रों का सार क्या है ? तो इसका बहुश्रुत आचार्यों द्वारा समाधान दिया गया कि इन सबका सार आचार है, सम्यक् चरित्र है। इसके अभाव में आंतरिक विकास थम जाता है।

सम्यक् चरित्र, मन, वचन एवं काय की गति विधियों का सम्यक् नियमन करता है। चरित्र दो प्रकार के हैं - व्यवहार चरित्र और निश्चय चरित्र। व्यवहार चरित्र अणुव्रत, महाव्रत समिति, गुप्ति, धर्म एवं तप में प्रवृत्ति है। आत्मस्वरूप में लीनता तथा क्रोधादि कषाय एवं विकास की क्षीणता अथवा अल्पीकरण निश्चय चरित्र है।

जैनगमों में चरित्र का वर्गीकरण पांच प्रकार से किया गया है - सामाजिक चरित्र, छेदोपस्थापनीय चरित्र, परिहम् विशुद्धी चरित्र, सूक्ष्म संपदाय चरित्र एवं यथाख्यात चरित्र। पहले इन चरित्रों के स्वरूपों को भी संक्षेप में समझ लेना चाहिए। हिंसा असत्य आदि पापों से विरति सामाजिक चरित्र है। इसका ग्रहण कुछ सीमा विशेष के लिए भी किया जाता है तथा संपूर्ण जीवन के लिए भी। छेदोपस्थापनीय चरित्र में

श्रमण पर्याय की ज्येष्ठता एवं लघुता का निर्धारण होता है। परिहार विशुद्ध चारित्र में तप की आराधना की जाती है। परिहार का अर्थ तप है। सूक्ष्मसंपराय चारित्र साधक जीवन की उच्चस्तरीय स्थिति है, इसमें कषायों के अणु उपशांत या क्षीण हो जाते हैं। कषायों का सर्वतो उपशांत या क्षीण होना - यथाख्यात चारित्र है। यह निश्चय चारित्र है। इसके आधार पर चारित्र के तीन भेद होते हैं, उन्हें इस प्रकार जाना जाता है - क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक. चारित्र के सभी विभाग, आत्मानुसंधान की प्रक्रियाएं हैं। इस तरह आध्यात्मिक विकास सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की निर्मल, पवित्र साधना आराधना पर आधारित है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को आराधना को मोक्ष मार्ग कहा गया है। आत्मस्वरूप तत्त्वस्वरूप को समीचीन रूप से जान लेना सम्यक् ज्ञान है, उस पर श्रद्धा करना सम्यक् दर्शन है - एक जीवन में उपादेय को आत्मसात कर लेना एवं परिहेय का परित्याग कर देना सम्यक् चारित्र है, यह पूर्णता ही आध्यात्मिक चरम विकास है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है -

**नाणेण जाणेई भावे, दंसणेण य सहहे ।
चारितेण निग्गण्णाहि तवेण परिसुज्झइ ॥**

ज्ञान से भावों का जाना जाता है, दर्शन से श्रद्धा की जाती है, चारित्र से कर्मों का निग्रह किया जाता है एवं तप से परिशुद्धि होती है। तपःसाधना, चारित्र में समाविष्ट हो जाती है. चारित्र का मूल्य, महत्त्व निर्विवाद है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार आध्यात्मिक उपलब्धि तब होती है जब वासनाएं मर जाती हैं और अन्तर मन में एक ऐसी अलौकिक, अपूर्व शान्ति समुत्पन्न होती है - जिसे आंतरिक शब्तातीत आनंदाभूति कहते हैं। यह चारित्र के महत्त्व को व्यक्त करती है।

सम्यक् चारित्र, जीवन की समीचीन शैली है। चारित्र का अर्थ, उद्देश्य स्वरूप में रमण करना तथा आंतरिक विकृतियों एवं अस्थिरता का समाप्त होना है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार - 'एयं चरित्त करं, चारित्तं होइ आहियं' अर्थात् चारित्र, कर्म के संचय को रिक्त, निःशेष करने का सशक्त साधन है। चारित्र को गौण करके आध्यात्मिक क्षेत्र में गतिशीलता संभव नहीं है। चारित्र की उपेक्षा पर चारित्र को खोने पर जीवन में शेष रह ही क्या जाता है। तीर्थंकरचारित्र इस बात के साक्षी है कि - चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने आध्यात्मिक चरम परम को संप्राप्त करने के लिए साढ़े बारह वर्ष तक सुदीर्घ तपः साधना, उत्कृष्ट चारित्र की आराधना से अपने आपको संलग्न रखा, वे तबतक सर्वथा मौन रहकर तपःसाधना करते रहे जब तक उन्हें अंतर में आध्यात्मिक अनुभूति का अमृत उपलब्ध नहीं हो गया।

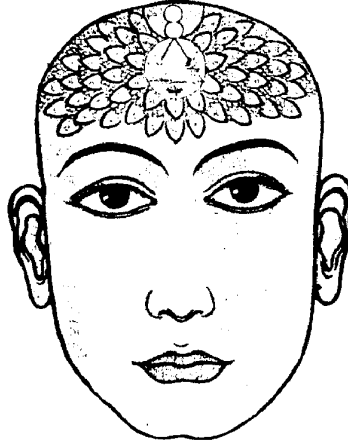
आधुनिक युग में चारित्र को गौण कर के जिस प्रकार से एकान्ततः 'ज्ञान' को पुष्ट किया जा रहा है उसके लिए जिस तरह से विधायक परिणाम उभर कर आने चाहिए, वे नहीं आ रहे हैं। आज की इस स्थिति के सम्बन्ध में किसी मनीषी कवि ने बड़ी अच्छी अभिव्यक्ति की है -

**तर्क से तर्कों का रण छिड़ा, विचारों से लड़ रहे विचार ।
ज्ञान के कोलाहल के बीच, डूबता जाता है संसार ॥
और, उसका उल्टा परिणाम, बुद्धिका ज्यों ज्यों बढ़ता जोर ।
आदमी के भीतर की शिरा, और होती जाती है कठोर ॥**

सम्यक् चारित्र से शून्य, ज्ञानी अपने जीवन में केवल ज्ञान का भार ढोता है। चन्दन का भार उठाने वाला गधा सिर्फ भार ढोने वाला है, उसे चन्दन की सुवास का कोई पता नहीं चलता। ज्ञान, सम्यक् चारित्र से जुड़कर ही गौरवान्वित होता है। सम्यक्चारित्र जीवन का सच्चा श्रृंगार है। इसी से आंतरिक निखार एवं परिष्कार आता है। सम्यक् चारित्र से शून्य जीवन-जीवन नहीं रह कर भार बन जाता है। जो चारित्र से शून्य है, उसका पतन अवश्यम्भावी है। जो चारित्र परायण हैं, उन्हें पतन के लिए तनिक भी अवकाश जीवन के किसी मोड़ पर कहीं भी नहीं है। सम्यक् चारित्र जीवन की ज्योति है,

यह ज्योति अन्तर बाह्य रूप से जीवन के आंगन को आलोकित करती है। दुराचार के अंधकार को सम्यक् चरित्र के आलोक के आलोकित होने पर स्थान नहीं मिलता और जब अंधकार ही नहीं है तो किसी भी तरह की ठोकर किसी भी तरह के भटकाव अथवा किसी भी तरह की हानि की संभावना नहीं रहती। पाप कभी भी प्रकाश में नहीं अपितु अंधकार में पला करते हैं।

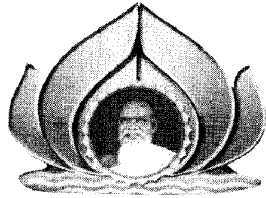
अध्यात्म की यात्रा में सफल होने के लिए चरित्र सचमुच सम्बलस्वरूप है। अहिंसा, संयम और तप की त्रिआयामी धर्मप्ररूपणा में तीर्थंकर महावीर ने 'संयम' अर्थात् चरित्र को धर्मवृक्ष का मूल कहा है। संयम, अर्थात् चरित्र के संतुलन केन्द्र पर जब आत्मा ठहर जाती है तो चेतना से उत्तेजना का कुहासा छट जाता है। असंयम, चरित्रहीनता अध्यात्म साधना की बड़ी बाधा है। जो सम्यक्चरित्र का संवाहक है वही अध्यात्म की साधना आराधना भलीभांति कर सकता है।



आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए सम्यक् चरित्र - 29



ॐ **आध्यात्मिक उत्क्रान्ति भावात्मक निर्मलता पर निर्भर**



3 अध्यात्मिक उत्क्रान्ति भावात्मक निर्मलता पर निर्भर

आध्यात्मिक विकास में जो सहायक साधन हैं, उनमें भावात्मक निर्मलता का भी अपना महत्त्व है। भाव, विचार, परिणाम, लेश्या - एक दूसरे के पर्यायवाची है। लेश्या, शब्द भाव का ही द्योतक है। भाव शब्द प्रचलित शब्द है, जबकि 'लेश्या शब्द आगमों का पारिभाषक शब्द है।

जिससे आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध हो, उसे लेश्या कहते हैं। मन के, भीतर के अच्छे-बुरे विचार ही लेश्या है। कषाय और योग के मिश्रण से जो लेश्या होती है, उसकी स्थिति अन्त मुहूर्त मानी गई है और जहाँ तक योग की प्रवृत्ति है, वहाँ लेश्या देश उन करोड़ पूर्व निरंतर रह सकती है आदि वह शुक्ल लेश्या ही है जो सयोगी केवली गुण स्थान में पाई जाती है। जहाँ योग नहीं, वहाँ लेश्या बिल्कुल नहीं होती। चौदहवें गुण स्थान में तथा सिद्धों में योग भी नहीं होते और लेश्याएं भी नहीं होती।

लेश्याएं छः प्रकार की बताई गई है - कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या। कृष्ण लेश्या वाला अत्यन्त अशुभ विचारों में जीता है। महारंभ और महापरिग्रह इसी लेश्या का परिणाम है। नील लेश्या दूसरों की समृद्धि को देखकर मन ही मन उद्विग्न रहता है। वह खान-पान के विवेक

से रहित, धर्मसाधना का विरोधी एवं छलकपट प्रधान मानसिकता से युक्त होता है। कापोत लेश्या वाला दूसरों की निंदा में रूचि एक शल्य प्रधान आंतरिकता लेकर चलता है। इसी, तरह आगे जिस तेजो लेश्या का उल्लेख है इस लेश्यावाला जीव विनम्र अचपल, सरल मर्यादानिष्ठ, धर्म का आराधक, तत्त्वरुचि सम्पन्न, मूल्यनिष्ठ एवं परोपकार परायण होता है। पद्म लेश्या से जुड़ने पर जीव में काम, क्रोध, लोभ, अहंकार के निग्रह, इन्द्रियों के वश में करने की प्रवृत्ति एवं सरल-संयम के प्रति, इसके परिपालन के प्रति भावनाएं जागृत होती है। शुक्ल लेश्या वाला जीव अतिशुद्ध एवं अत्युत्कृष्ट परिमाणों वाला सरलसंयम, वीतरागसंयम, उपशम श्रेणी क्षपकश्रेणी, यथाख्यात चारित्र और शुक्ल-ध्यान में वर्तन करने वाला होता है। पहली तीन लेश्याएं भावनाएं अप्रशस्त एवं अशुभ तथा शेष तीन लेश्याएं प्रशस्त है।

इसे स्पष्ट करने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण का सहारा लिया जा सकता है। कहा जाता है कि विभिन्न प्रकृतियोंवाले छः भूखे व्यक्तियों ने एक बार जंगल में घूमते हुए जामुनों से लदा हुआ एक वृक्ष देखा तो उसमें से पहले कृष्ण लेश्या वाले व्यक्ति ने कहा - आइये, हम इस वृक्ष को काट दें और फिर आराम से बैठकर हम फल खाएंगे।

नील लेश्या वाला दूसरा व्यक्ति बोला - नहीं भाई। केवल बड़ी-बड़ी डालियां काट लेते हैं। कापोत लेश्या वाले तीसरे व्यक्ति ने कहा- बड़ी-बड़ी डालियां क्यों काटी जाए, केवल गुच्छों वाली छोटी छोटी डालियां ही काटनी चाहिए। तेजो लेश्या वाले चौथे व्यक्ति ने सलाह दी - डालिया काटने से क्या लाभ होगा ? जबकि केवल गुच्छे ही तोड़ने से काम चल सकता है।

पद्म लेश्या वाले पांचवे व्यक्ति ने अपने विचार रखते हुए परामर्श प्रकट किया - गुच्छों में तो कच्चे फल भी हैं इन्हें तोड़ने से क्या लाभ होगा ? अतः केवल, पके हुए फल ही तोड़कर भूख मिटानी चाहिए।

तभी शुक्ल लेश्या वाले छठे व्यक्ति ने शान्ति भाव से सबको समझाया कि पृथ्वी पर गिरे हुए फल क्या कम है ? जब इन्हीं से भूख मिटाई जा सकती है तो बेचारे वृक्ष को क्यों काट दिया जाए ? इन छः व्यक्तियों की विचार-धारा लेश्याओं का सुन्दर

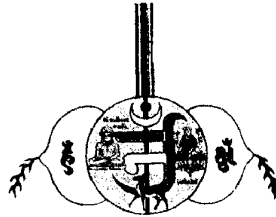
परिचय दे रही है. तथ्य यह है कि हमें निर्मल आचार और सुन्दर व्यवहार के लिए सर्व प्रथम पवित्र विचार, पवित्र भाव की ओर ध्यान देना चाहिए। मन के मंदिर में हमेशा पवित्र भावों का दीप प्रज्वलित रखिये। “परिणामें बन्धो, परिणामें मोक्खों” इस आगमसूत्र में स्पष्ट संकेत है - आत्मा का इस संसार में कर्मों से बन्धन अथवा कर्मों से मुक्ति उसके अपने परिणाम अर्थात् भावों के आधार पर है।

भगवान महावीर से एक बार जब पूछा गया कि धर्म का निवास कहाँ है तो उन्होंने स्पष्ट कहा - ‘**धमो सुद्धस्स चिद्धइ**’ अर्थात् धर्म का, अध्यात्म का निवास स्थान सरल, सहज, निष्पाप पवित्र अन्तःकरण है। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन है -

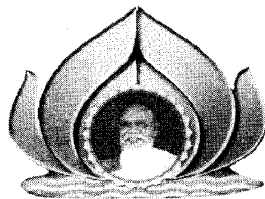
निर्मल मन सो हि जन मोहि भावा ।

मोहि कपट छल नाहि सुहावा ॥

सचमुच, प्रभु उसी से स्नेह करते हैं जिसका अन्तःकरण निर्मल है। अन्तःकरण की निर्मलता से अभिप्राय भावों की निर्मलता है। जैनागमों में स्थान-स्थान पर इस आशय के उल्लेख देखने को मिलते हैं - “भाव रहिओ न सिज्झइ” - अर्थात् भाव से रहित जो है वह सिद्ध बुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। यूँ भाव तो प्रत्येक में होता ही है, जिसे मन मिला है, वह जीव, इस संसार में भावशून्य में ही नहीं सकता पर प्रश्न यह है कि भाव पवित्र है अथवा अपवित्र ? अन्तःकरण निर्मल भावों से जुड़कर जितना सात्त्विक, शुभ अनुभूतियों से आप्लावित होगा, आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन उतना ही ज्योतिर्मय बनेगा।



4 _ पुनर्जन्म एवं परामनोविज्ञान की दृष्टि में आत्मा



4 पुनर्जन्म एवं परामनोविज्ञान की दृष्टि में आत्मा

सम्पूर्ण संसार में दो शक्तियाँ प्रमुख हैं - चैतन्यशक्ति, जड़शक्ति। इन्हीं दो तत्त्वों से दो शक्तियों से सारा संसार भरा पड़ा है। इन दोनों शक्तियों में से आत्मशक्ति प्रमुख है। आत्मशक्ति के बोध एवं इसके समुचित उपयोग के बिना सारा का सारा तंत्र ही अव्यवस्थित एवं असंतुलित हो जाता है। सम्पूर्ण भारतीय अध्यात्मवाङ्मय का स्वर है कि आत्म तत्त्व के ज्ञान के अभाव में सब कुछ व्यर्थ है। शुद्ध आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जान लेना, पहचान लेना ही महावीर की दृष्टि में सच्चा ज्ञान है। मैं कौन हूँ? मैं की खोज, मैं की पहचान ही यथार्थ ज्ञान है। स्थानांगसूत्र में बिना मंगलाचरण के पहला ही सूत्र कहा गया है - आत्मा एक है - 'एगे आया'। यह आत्मा का एकत्व ज्ञान स्वरूप की दृष्टि से है। आचारांगसूत्र में भी इस प्रकार की ध्वनि आई है कि जो ज्ञाता है वही आत्मा है, और जो आत्मा है, वही ज्ञाता है। 'जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।'

आत्मा ज्ञान स्वरूप है। चेतना आत्मा का गुण है। जहाँ आत्मा का अस्तित्व नहीं वहाँ ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं। जहाँ लक्ष्य है, वहीं लक्षण है। जहाँ लक्षण है, वहीं लक्ष्य है। लक्ष्य और लक्षण कभी अलग नहीं रह सकते। जैसे सूर्य और प्रकाश कभी अलग-अलग नहीं किए जा

सकते। जहा अग्नि है वहीं उष्णता है, जहाँ मिश्री है वहीं मिठास है। जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञान है। इस ज्ञान के बाद ही अन्तर प्रकाशमान बनता है।

हमारा पुरुषार्थ सर्वप्रथम आत्मस्वरूप, अपने स्वरूप को जानते, देखने अथवा समझने में लगनी चाहिए। भगवान महावीर ने कहा - 'जे एगं जाणेइ, ते सव्वं जाणेइ' जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सब को जान लेता है। यही बात उपनिषद् काल के एक मनीषी आचार्य ने किसी जिज्ञासु के द्वारा यह पूछे जाने पर कि संसार का वह कौन सा तत्त्व है जिसके जान लेने पर सबकुछ जान लिया जा सकता है। तो उन्होंने कहा - "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" अर्थात् एक आत्मा को जान लेने पर ही सब कुछ जान लिया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि आत्मतत्त्व ही सर्वोपरि है।

विश्व रचना के मूलभूत घटकों में निश्चित रूप से आत्मा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दृश्यमान इस जगत में आत्म-अस्तित्व के संदर्भ अनेकानेक रूपों में उपलब्ध है। आत्मतत्त्व की संकल्पना का सार्वमौलिक एवं सार्वभौमिक है। विश्व अस्तित्व का बोधक जीवात्मा है। अस्तित्ववादी परम्पराओं का प्राण भी आत्मा ही रहा है। समस्त द्रव्यों, पदार्थों एवं तत्त्वों में मूल्यों की दृष्टि से सर्वाधिक मूल्यवान आत्मा ही है। जैन आगमिक साहित्य में, जहां जीव-तत्त्व के स्वरूप पर चिंतन की धारा अटल गहराई तक पहुंची है, वहाँ वर्गीकरण एवं विस्तार को भी पूर्ण वैज्ञानिकता के साथ जानने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है।

जैन दर्शन आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को मानता है, परलोक पुण्य, पाप, कर्मबन्धन, मुक्ति आदि के अस्तित्व को स्पष्टतः स्वीकार करता है। वस्तुतः जैन दर्शन ने आत्मा आदि उन तत्त्वों पर जितनी गहराई से चिंतन, जितना सूक्ष्म-अन्वेषण किया है, उतना किसी भी अन्य विचारधारा ने नहीं किया। आत्मा अस्तित्व, पुण्य, पाप, कर्मबन्धन तथा मुक्ति के सम्बन्ध में जितने स्पष्ट एवं तर्क सम्मत प्रमाण जैन दर्शन में उपलब्ध हैं, वे निश्चित रूप से अद्भुत है। जैनों का आगम एवं दर्शन साहित्य-आत्मतत्त्व के विवेचन से भरा पड़ा है।

पुनर्जन्म एवं परामनोविज्ञान की दृष्टि में आत्मा - 37

देह विनाशी है जबकि आत्मा अविनाशी है। देहादि के विनष्ट हो जाने पर भी जीव की आत्मा की सत्ता कभी समाप्त नहीं होती। कर्मों के अनुसार वह पुनः अन्य शरीर को प्राप्त हो जाता है। आत्मा अविनश्वर हैं उसे न कोई शास्त्र काट सकता है और न उसे अग्नि जला सकती है। कर्मों का आत्मा के साथ जबतक संग-साथ है तबतक 'पुनरपि जन्म पुनरपि मरण', देह धारण की प्रक्रिया चलती रहती है। कर्म की अवधारणा के साथ पुनर्जन्म की धारणा ध्रुव है। जैनागमों एवं भारतीय पौराणिक साहित्य में तो इस तथ्य की विशद एवं गहरी चर्चाएं हैं ही, आज इस दिशा में अनुसंधित्सुजनों द्वारा जो प्रयोग किए गए हैं, उससे भी पुनर्जन्म की परलोक की धारणाएं आवश्यक रूप से स्पष्ट हो जाती है। खाओ पीओ, मौज करो, आत्मा, परमात्मा कर्म, अथवा परलोक जैसा कुछ भी नहीं है, धर्म, अध्यात्म का जीवन में कोई औचित्य नहीं है, जो इस तरह का बेतुका स्वर आलापते हैं, उन्हें इन तथ्यों पर आवश्यकरूप से विचार-चिंतन करके अध्यात्मनिष्ठ योग्य जीवन जीने के लिए अपने आपको प्रस्तुत करना चाहिए।

अध्यात्म साधना, धर्म आराधना को नकार कर जो परिहेय से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन्हें यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि शुभाशुभ कर्मों के अच्छे-बुरे प्रतिफल-परिणाम देर सवेर निश्चित रूप से भोगने पड़ते हैं। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक लगभग इस अभिमत पर सहमत हैं।

पुनर्जन्म की मान्यता को प्रमाणित करनेवाले कुछ तथ्य प्रस्तुत संदर्भ में संक्षिप्त रूप से अंकित करने में आवश्यक समझ रहा हूँ। भगवान महावीर ने उनके प्रधान शिष्य गणधर गौतम से एक बार कहा था - हे गौतम। तेरा और मेरा बहुत लम्बे काल से, अनेक जन्मों से सम्बन्ध चला आ रहा है। तू मेरा अपना पुराना परिचित है। भगवान महावीर के इस कथन को सुनकर गौतम स्वामी को भगवान के साथ रहे हुए पूर्वजन्मों के सम्बन्धों का परिज्ञान हो गया। भगवती सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख है - 'चिर संसिद्धोऽसि मे गोयमा। चिरपरिचियऽसि मे गोयमा...।

इसी तरह भगवान महावीर ने मगध के सम्राट श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार को जो मुनि दीक्षा ग्रहण करने के बाद प्रथम रात्रि में ही मानसिक दृष्टि से विचलित हो गया था, उसे उसे पूर्व जन्म से संबंधित हाथी के जीवन की अद्भुत कष्ट सहिष्णुता की घटना की स्मृति करवाकर साधना में स्थिर किया। ऐसी अनेकानेक घटनाएं, ऐसे कई तथ्य शर्गरादि के नष्ट होने पर भी आत्मा की शाश्वत सत्ता को पुष्ट करते हैं। नंदीसूत्र के अनुयोग प्रकरण में 'मूल पढमाणुं ओगे में तीर्थकर भगवन्ते के भवांतरों का संक्षिप्त वर्णन है। आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित समराइच्य कहा, संघवाल गणि विरचित वसुदेवहिण्डी तथा पुष्पदन्त कवि रचित 'जसहरचरिउ' आदि कई ऐसे ग्रन्थ आज उपलब्ध है - जिनमें चित्रित वैरानुबंधी कथाएं आत्मा, कर्म परलोक, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त का सशक्त प्रमाण है।

उपनिषदों में आत्म अस्तित्व एवं पुनर्जन्म के सम्बन्ध में आए हुए सूक्ष्म एवं गंभीर चिंतन से जुड़े नचिकेता द्वारा की गई जिज्ञासाएं इस दृष्टि से विश्रुत हैं। धम्मपद की टीका में भी बुद्धघोष इस यथार्थ को प्रस्तुत करता है। स्वाध्याय के क्षणों में इसी सिद्धान्त का समर्थन करने वाली अभिव्यक्ति मनुस्मृति में देखने को प्राप्त हुई 'प्राणी के कार्य में जिस गुण की प्रधानता से कर्म किया जाता है उसी के अनुसार वह इस संसार में देह-शरीरधारण करता है और उसका उपयोग करता है।

प्रस्तुत लेखन-चिंतन के क्षणों में अचानक मेरे मानस में गीता का इसी आशय का एक प्रसंग उभर आया है, जिसे अगली पंक्तियों में ज्यों का त्यों उपस्थित कर रहा हूँ. कर्मयोगी वासुदेव श्री कृष्ण ने एक बार धर्नुधर अर्जुन से कहा - हे अर्जुन ! मैं जिस अविनाशी योग के सम्बन्ध में तुम्हें बता रहा हूँ, मैंने इसका उपदेश सबसे पहले विवस्वत को दिया था उसने अपने पुत्र मनु को और मनु ने यह उपदेश इश्वाकु को दिया था। यह सुनकर तत्काल अर्जुन ने श्री कृष्ण से पूछा - प्रभो ! आपका कथन यथार्थ है पर मुझे समझ में नहीं आ रहा है, मेरी जिज्ञासा है कि आपका जन्म तो अब हुआ है और विवस्वत का जन्म आपसे बहुत समय पहले हो चुका है फिर आपने इस योग का उपदेश कैसे दिया ?

पुनर्जन्म एवं परामनोविज्ञान की दृष्टि में आत्मा - 39

इसका समाधान देते हुए कृष्ण ने कहा -

**बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुनः ।
तान्यहं वेद सर्वाणि, ने त्वं वेत्थ परंतपः ॥**

अर्थात्, हे अर्जुन ! मेरे और तेरे इस जन्म के पहले अनेको जन्म हो चुके हैं । तू इस बात को नहीं जानता है, परन्तु मैं इसे भलीभांति जानता हूँ ।

पाश्चात्य विचारकों ने भी इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अभिव्यक्तियों की हैं, जो मननीय हैं । ग्रीक दार्शनिक पायथागोरस ने कहा साधुता का परिपालन करने पर जीव का जन्म उच्चतर लोकों में होता है और दुष्टकर्मों का आचरण करने पर जीवात्माएं तिर्यच अर्थात् पशु आदि योनियों में जाती हैं । प्लेटो का प्रसिद्ध ग्रन्थ है फीडो ! फीडो ग्रन्थ में विस्तार से आत्मा की जीवन यात्रा का वर्णन विश्लेषण है, वे पुनर्जन्म के आत्मा के सिद्धान्त को स्पष्टतः सिद्ध मानते हैं । एम्पिडोक्स आदि यूनानी दार्शनिकों का अभिमत रहा कि यदि पूर्व जन्म है तो पुनर्जन्म भी है । पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म दोनों साथ-साथ व्यवस्थित रूप से चलते हैं । शैलिंग का पुनर्जन्म में अटूट विश्वास था । लायबनिज के अनुसार प्रत्येक जीवित वस्तु अमर एवं अविनाशी का है । विचारक कान्ट ने व्यक्त किया - इस संसार में प्रत्येक आत्मा मूलतः शाश्वत है । दार्शनिक स्पिनोझा के साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि उसका, आत्मा की शाश्वता में अखूट-अटूट विश्वास था । न केवल पाश्चात्य दर्शन अपितु पाश्चात्य काव्य साहित्य में भी पुनर्जन्म एवं आत्म सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्फुट संकेत देखने को मिलते हैं । हाईडन, वर्ड्सवर्थ, मैथ्यु, आर्नोल्ड, ब्राउनिंग आदि ने यह एक स्वर में स्वीकार किया कि अजर-अमर अविनाशी शक्ति समृद्ध आत्मा का वध करने की क्षमता मृत्यु में नहीं है ।

प्रस्तुत लेखन में, मैंने मात्र संकेत कर दिये हैं, विस्तृत विवेचन विश्लेषण संप्रति मेरा उद्देश्य नहीं है । मेरा सोचना है कि इस सिद्धान्त पर स्वतंत्र रूप से महत्त्वपूर्ण उपादेय ग्रन्थ तैयार हो सकता है, और इस दिशा में भी मेरा लेखन का संकल्प है, यथासमय वह भी मूर्त स्वरूप लेगा । उद्देश्य मात्र यही है कि आत्मतत्त्व की प्रतीति

40 - अध्यात्म के झरोखे से

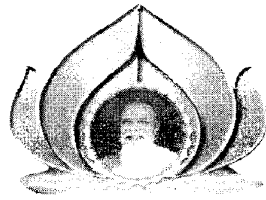
करके जीवनोत्कर्ष साधकर जन-जन अन्तर-बाह्य क्लेशों से अपने आपको मुक्त कर सके। आधुनिक युग में पुनर्जन्म वाद के परिप्रेक्ष्य में आए दिन समाचार पत्रों आदि में ऐसी घटनाएं देखने पढ़ने को मिलती है। विगत वर्षों में सत्य घटनाएं शीर्षक से एक पुस्तक देखने में आई जो इस दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

आज सबसे बड़ी समस्या और संकट यही है कि व्यक्ति को अपने आप पर विश्वास नहीं है। जिस जीवन यात्री का अपने आप पर विश्वास अर्थात् आत्मशक्तियों पर विश्वास होता है, वह कभी कही, किसी भी परिस्थिति में बाहर में नहीं भटकता। वह अपने दैन्य का रोना कहीं पर नहीं रोता। उसके अन्दर और बाहर आत्म विश्वास का आलोकित आलोक रहता है। जितने भी शास्त्र, जितने भी ग्रन्थ, जितने भी गुरु और जितने भी धर्म और संप्रदाय हैं वे सबके सब व्यक्ति के भीतर के सोए हुए आत्म-विश्वास को जगाने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य को कभी भी निराश नहीं होना चाहिए। अपनी आत्म-शक्ति को जगाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक आत्मा-परमात्मा का स्वरूप है। 'अप्पा से परमात्मा' जो आत्मस्वरूप है, वही परमात्मा स्वरूप है। प्रत्येक घट में वह दिव्य ज्योति विद्यमान है मात्र उसे प्रकट करने की आवश्यकता है। अतः आत्मशक्ति को जगाओ। अन्तर में डुबकी लगाओ। कर्म-कल्मष को दूर भगाओ। अपने आप में खोकर अपनी मंजिल को पाओ। आत्मजागरण ही विकास का सच्चा सोपान है।





७० निजत्व की अनुभूति का प्रयास : अध्यात्म



5 - निजत्व की अनुभूति का प्राप्ति : अध्यात्म

धर्म का स्वरूप और अध्यात्म का रूप दो अलग-अलग स्थितियाँ होकर भी एक है। जीवन को समझने के लिए इनकी, सही पहचान कर लेना जरूरी है। साधक के लिए ही नहीं, सामान्य गृहस्थ के लिए भी यह ज्ञान होना आवश्यक है। इसका कारण है कि यह शब्द हमारी सहायता नहीं करते। शब्द के माध्यम से जानने की प्रक्रिया शुरू तो हो सकती है, लेकिन उसका आरपार पाना मुश्किल ही होता है।

शब्द मारता है और अर्थ तारता है। यह सिद्धान्त ऋषि परंपरा का उद्गीथ है, जैन दर्शन की ज्ञान दिशा हो, वैदिक साहित्य की परंपरा हो, बुद्ध चिंतन का प्रसाद हो या ईसाई मनीषियों का प्रवचन, सूफी सन्तों की कहानियां हो या जैन संतों की बोध कथाएं! कहीं से भी आरंभ क्यों न करें, सर्वत्र एक समन्वयकारी प्रतिभा एवं 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' का घोष ही सुनाई देता है।

इसलिए विचार की गहराई तक पहुंचने की प्रक्रिया से जुड़े लोगों की बात निरंतर एकत्व की कथा-गाथा कहती हुई दिखाई देती है, शब्द तारता नहीं है, मारता हैं, तारता तो है अर्थ!

शायद दुनिया की साधु-परंपरा ने नित्य ही शब्द को नकारा है भगवान महावीर की वाणी गुंजी तो उन्होंने कहा - सब्बे सरा नियद्वन्ति,

तक्का जत्थ न विज्जइ, मई जत्थ न गाहिया अर्थात् सभी स्वर जहां गौण हो जाते हैं, तर्क की जहाँ अवस्थिति नहीं रह जाती, जो शब्दों और युति के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, अनुभूति का विषय है कहकर अध्यात्म का रहस्य उद्घाटित किया कबीर ने -

“पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय” कहकर पंडित होने का रहस्य बताया। नरसी महेता ने कहा था कि ग्रन्थों ने सारी गड़बड़ कर दी है और खरी बात नहीं कही है। तुकाराम ने सद्भाव के ग्रन्थ लेखन की शक्ति और शैली से अपनत्व दिया है। दक्षिण की संत परंपरा सत्य की मशाल के प्रकाश में जीवन को देखने की अभ्यस्त है।

पश्चिम की आंग्ल हो या यूनीनी, लातीनी हो फ्रांसीसी, कहीं से भी उगनेवाला सत्य का सूरज एक ही बात बताता है कि शब्द के मार से मुक्त हो जाओ, तो फिर जो उंगे, फल वे ही अनुभूति के महासत्य को उद्घाटित करेंगे। अध्यात्म का अंचल में शब्द की साधना से नहीं, अक्षर की साधना से, पूजा से संलग्न और समृद्ध होने वाला है, फिर भी समझना तो उसे शब्द से ही है।

जब यह प्रश्न उभरा कि किस का शब्द सत्य का उद्घाटन करता है - तो एक ही तथ्य प्रस्तुत किया गया - ‘अप्पणा सच्च मे सेज्जा’ पन्ना सम्मिक्खाए धम्मं ‘जे एणं जाणइ ‘जो नाणेइ अप्पाणं परमसमाहि हव्वे तस्स’” अभिप्राय यह है कि स्वयं से जुड़ने पर ही सत्यता का महाद्वार खुलता है। यह आधार ग्रहण करके ही हम इस स्तंभ के माध्यम से कुछ चर्चा करेंगे कितनी महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है -

जे हि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नांहि प्रवेश ।

त हि बढ चित विसाम करुं, सरहें कहिय उवेस ॥

अर्थात्, जिस मन में पवन तक की गति नहीं होती जहाँ सूरज और चांद का प्रवेश भी नहीं, उसी स्थिति से चलकर ऐ चित्त ! विश्राम कर।

निजत्व की अनुभूति का प्रयास : अध्यात्म – 45

एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का संकेत ही इस आत्मवाद में ध्वनित है इसीलिए तो निश्चय परक भाषा में 'अप्पाणमेव' को संदर्भित किया गया है। "आत्मावारे द्रष्टव्यमः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्य में इसी की अनुगुंज सुनाई देती है।

आत्मा ही एकमेव साध्य है, शोध्य है, बोध्य है आत्मा की पहचान न सिर्फ आत्मा की पहचान है किन्तु आत्मेतर की भी पहचान है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म सब इसी उत्स प्रवाहित हुआ है। समत्व, संयम, अनासक्ति, भक्ति, व्रत-नियम सभी आत्मा की धुरी पर गतिशील है। अध्यात्म से जुड़कर ही अन्तर-बाह्य समस्या को सुलझाया जा सकता है।

अध्यात्म अर्थात् आत्मा का अध्ययन ! आत्मा की पहचान अर्थात् अपने अस्तित्व की समझ ! जो अपने को नहीं पहचानता, जो अपने प्रति बेखबर है, जो अपने आपसे अनजान है, उससे किसी भी विवेक या बुद्धिमत्ता की अपेक्षा व्यर्थ है। जानना एक बात है, पहचानना दूसरी और समझकर आत्मसात करना, गहराई लिए हुए है। जो आत्मतत्त्व से सर्वथा विलग, केवल देहगत या भौतिकता से संलग्न है, उसमें सतहीपन है। जो सतह पर तिरता रहता है, वह भला-मोती कहाँ से पाएगा ? उसकी प्रवृत्ति में थोथापन है। अध्यात्म क्या है ? अध्यात्म सही अर्थों में अपने माध्यम से सब कुछ समझना है। जो व्यक्ति सर्वज्ञात होना चाहता है, उसकी यात्रा अपने ही माध्यम से सम्पन्न होना जरूरी है। जो आवश्यक है, अपेक्षित है, उस तक पहुंचने के लिए अपना ही आश्रय सर्वोपरि है।

अध्यात्म, अन्तर में उतरने का तहखाना है, शरीर एक आकार है, एक प्रकार है। उस आकार, उस प्रकार के भीतर एक तहखाना है जो भीतर ही भीतर आत्मा के उज्ज्वल आलोक में पहुंचा देता है-वहाँ पहुंचने का अर्थ है - स्थूल का परित्याग कर सूक्ष्म में पहुंच जाना ! वहा पहुंचने का अर्थ है, उन द्वारों को खोल देना, जिनके खुलते ही अपार, अकूत, आत्म-धन उपलब्ध हो जाता है।

जैन दर्शन में आत्मवाद - अध्यात्म का प्रमुख स्थान है। किसी भी प्रकार की जैन साधना का प्रमुख लक्ष्य आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। आत्मसाधना में शरीर एक

साधन मात्र है। शरीर अनित्य, अशुद्ध होते हुए भी शक्ति का अनंत स्रोत है। शरीर का सदुपयोग अध्यात्म के द्वारा ही संभव है। बहिर्मुखता से हर बार आसक्ति तथा भोगी-उपभोगी के प्रति मूर्च्छना की उत्पत्ति होती रही है एवं होती है। जबकि अन्तर्मुखता से सारा चिंतन सांसारिक पदार्थों पर नहीं वरन् आत्म परक होता रहा, होता है, एवं होगा, अन्तर्मुखता से ही विषयभोग छूटते हैं। अन्तर्मुखता से ही उत्कर्ष सधता है, अन्तर्मुखता से ही कर्म जर्जरित होते हैं। सच तो यह है कि अन्तर्मुखता से ही अनासक्ति आती है।

अध्यात्म हमारी परंपरा में आरंभ से ही है। अब यदि इससे विमुख होते हैं तो यह हमारी मूर्खता है। कहा जाएगा कि हम मूल से कट रहे हैं, उसी डाल को काट रहे हैं जिस पर हम बैठे हैं।

आज जो सांप्रदायिकता यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है उसके मूल में भौतिक व्यामोह ही है। इसे और सहजता से समझने के लिए यह सूत्र हम समझें - धर्म का शरीर सम्प्रदाय है और इसकी आत्मा अध्यात्म ! ज्यों ज्यों हम शरीर अथवा भौतिक आग्रह अपनाते हैं, हमारी सांप्रदायिक भावना दृढ़ होती है। यदि हम आध्यात्मिकता की ओर बढ़ेंगे तो हमारे आग्रह शिथिल पड़ेंगे। संप्रदाय भावना हमें व्यर्थ प्रतीत होगी।

सही अध्यात्म है - सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। मुझे यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता है कि अध्यात्म ही मानव-जीवन को अपेक्षित उत्स प्रदान कर सकता है। भौतिकता का आग्रह केवल क्षणिक लाभ अथवा सुख प्रदान कर सकता है। मैं यहां पर यह भी कहना चाहूंगा कि अध्यात्म को प्रदर्शन के परिप्रेक्ष्य में नहीं, उसे अपने वास्तविक परिप्रेक्ष्य में ही लिखा, परखा व अपनाया जाना चाहिए। किसी भी व्यक्ति का आध्यात्मिक रूझान उसे अपने छिछले स्तरों से ऊंचा उठायेगा और कई प्रकार की बाधाये - दुष्प्रवृत्तियाँ अपने आप ही समाप्त हो जाएगी। उन वृत्तियों का अन्त होने का मतलब-मानव जीवन की यंत्रणाओं का अंत है। यहां यह कहें कि आध्यात्मिक संस्थापना आज बेहद जरूरी ही नहीं अपितु अनिवार्य है तो कोई गलत बात नहीं होगी।

निजत्व की अनुभूति का प्रयास : अध्यात्म - 47

हमारी पास अध्यात्म की बहुत ही श्रेष्ठ परंपराएँ हैं। व्यापक चिंतन इसके एक-एक पहलू पर हुआ है। बड़े-बड़े प्रयोग हुए हैं, बड़े-बड़े उदाहरण भी हमारे सामने हैं पर सब को भुलाकर ही हम कदम-कदम पर यन्त्रणाएं भुगत रहे हैं पर मेरा अपना अखूट विश्वास है कि अध्यात्म को अपना कर हम पुनः अपनी पहले सी उच्च-स्थितियों में आयेंगे।

यह केवल आदर्श कथन मात्र न माना जाय। इसे एक दूर की बात कह कर टाला भी नहीं जाये। जीवन के सम्पूर्ण सुख एवं आनंद के लिए हमें इस आदर्श को पाना ही होगा। जितना अधिक हम इसे पाते जायेंगे उतना ही हम उभरते चले जायेंगे। वक्त लग सकता है, पर उभरने में कोई बाधा है ऐसा नहीं कहा जा सकता। जरूरत है हमारे मन की तैयारी की। कई प्रकार के प्रलोभनों से आज मानव गुंथा हुआ है। पहले वह उन फंदों से अपने आपको छुड़ाएँ और फिर सही मार्ग पर चल पड़े।

अच्छाई और बुराई तो सर्वदा रही है। एक दूसरे की इस रस्साकशी में ही तो अंततः सही व्यक्ति जीतता है। हमें क्षण-प्रतिक्षण सही होना है। हमारा हर व्यवहार भौतिक आग्रहों से मुक्त हो। अध्यात्म की आराधना से हम विकृतियों से मुक्त होंगे, हम सफल होंगे, हम विजयी होंगे इसी आशा एवं भावना के साथ हमें आगे और आगे बढ़ना है। इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिकोण बनते ही व्यक्ति की हर प्रवृत्ति में अद्भुत संतुलन आ जाता है। धर्म अथवा अध्यात्म की उपेक्षा करके कोई भी व्यक्ति शांतिपूर्ण जीवन जी नहीं सकता। आज अध्यात्म चेतना सुषुप्त है - इसीलिए चारों ओर संकट है।

अपेक्षित है, अध्यात्म के प्रति आंतरिक निष्ठा जागृत हो। निजत्व से जिनत्व को प्रकट करते जाना, स्व की खोज एवं बोध की परीक्षा अध्यात्म है। जड़-चेतन रूप पदार्थ की समीक्षा तथा निजत्व की अनुभूति का सम्प्रयास अध्यात्म है। अध्यात्मसार एवं अध्यात्मोपनिषद के अनुसार निर्मोह अवस्था में आत्मा को अधिकृत करके जो शुद्ध क्रिया प्रवर्तित होती है, वही अध्यात्म है। शुद्ध आत्मा में विशुद्धता का आधारभूत अनुष्ठान अध्यात्म है। विशुद्ध अनुष्ठानों में आगे बढ़ना ही आध्यात्मिक

विकास है। आचारांग सूत्र में सर्व प्रथम यही आत्मबोधक सूत्र आता है कि पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण से आया है वह मैं हूँ सोऽहम् ! मैं कषाय नहीं हूँ संज्ञा नहीं हूँ, शरीर नहीं हूँ, मैं दिग्काल या बाहरी परिवेश इनमें से कुछ भी नहीं हूँ। ये सब पर पदार्थ है। मैं केवल ज्ञाता द्रष्टा, अरूपी सत्ता एवं चैतन्य स्वरूप हूँ। यही स्वानुभूति का विषय है। भीतर का विकास अन्तःप्रज्ञा का विकास ही आध्यात्मिक विकास है इसी से जीवन में उल्लास उभरता है। ममत्व घटता है, समत्व बढ़ता है। विकृतियों का क्षरण होता है। निजस्व भाव में रमण चलता है। अध्यात्म चेतना जागृत होने पर व्यक्ति सोचता है - मैं अकेला हूँ, अकेला आया हूँ और अकेला ही एक दिन जाऊंगा। जब यह भावना प्रबल हो जाती है तब व्यक्ति किसी के प्रति निर्मम नहीं हो सकता। उसकी करुण भावना जाग्रत हो जाती है। वह किसी के प्रति विमोह से ग्रस्त नहीं होता है। वह यह जानता है कि जीवन कितना है।

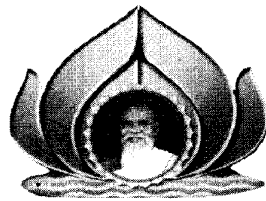
जब-जब भी व्यक्ति अध्यात्म विहीन बना है, जब-जब भी अध्यात्म की उपेक्षा करके भौतिकता में डूबा है, उसका जीवन समस्याओं का आगार बना है। अन्तर-बाह्य यंत्रणाओं से मुक्ति एवं जीवन में उजाले के प्रवेश के लिए अध्यात्म का महत्व असंदिग्ध है। स्वयं के द्वारा स्वयं की प्रतीति अध्यात्म और यह अध्यात्म मुक्ति का मार्ग है। अध्यात्म से ऊर्जा उत्पन्न होती है। अध्यात्म से आभामंडल तेजस्वी बनता है। अध्यात्म से सहनवृत्ति बढ़ती है। अध्यात्म से धृति बढ़ती है, प्रतिभा चमकती है।

कुल मिलाकर अध्यात्म, हमारे जीवन का आधारस्तंभ है। जिस प्रकार आधार-स्तंभ के टूटने पर सुन्दर और मजबूत महल भी गिर जाता है, उसी तरह अध्यात्म की उपेक्षा से जीवन का, सद्गुणों का हास होता है। यह सजगता सदैव रहे कि अध्यात्म की उपेक्षा नहीं हो। अध्यात्म के अग्निपथ पर जो भी बढ़ा हैं, उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त हुई है।





ॐ _ चेतना की सर्वोच्च अकम्प अवस्था : ध्यान



७ **चेतना की सर्वोच्च अकम्प अवस्था : ध्यान**

भा रतीय चिन्तन परम्परा में योगविद्या अनुभवसिद्ध प्रयोगविद्या है। हमारी प्राचीन आध्यात्मिक सम्पत्ति के रूप में योग का महत्त्व अक्षुण्ण है। योगविद्या प्राणविद्या से घनिष्ठ अर्थों में संबद्ध है।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
(कठोपनिषद २-६-११)

(आत्मा के स्थान पर) इन्द्रियों की स्थिर साधना करने की प्रक्रिया का नाम है।

उपनिषदों में आने वाली योगचर्चा न केवल एक दर्शन के रूप में आई है अपितु क्रियात्मक साधन के रूप में भी उसकी वरेण्यता के दर्शन होते हैं।

योगसाधना को उपलब्ध होने वाले व्यक्ति द्वारा प्राप्त फल की चर्चा श्वेतास्थतरोपनिषद में यों आती है -

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः ।

प्राप्तस्य योगाग्निभयं शरीरम् ॥ (२-१२)

योगाग्निमय शरीर को धारण करनेवाला व्यक्ति रोग को प्राप्त नहीं होता है, ना उसे वृद्धत्व आ घेरता है और ना ही मृत्यु उसे स्पर्श करती है।

अमृतोपनिषद में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम धारणा, तर्क, समाधियों, षडंगयोग वर्णित है -

**प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽक्ष धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥**

तेजोबिन्दूपनिषद में योग के पन्द्रह अंगों की चर्चा आई है -

**यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः
आसन मूलबन्धस्य देहसाम्यं च दृक्स्थितिः
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा
आत्माध्यानं समाधिश्च प्रोक्तात्यङ्गानि वै क्रमात् ।**

यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृष्टि की स्थिति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि ये पन्द्रह अंग हैं ।

बुद्ध धर्म में योग के महत्त्व की चर्चा आती है । बुद्ध के काल में भारत में योगविद्या सुप्रतिष्ठित हो गई थी । गया के निर्जन वनों में बुद्ध ने आस्फानक नायक समाधि में प्रवेश कर अपार देह दण्ड सहा था । बुद्ध धर्म का स्वतन्त्र योगशास्त्र है । इसका पातंजलि योगदर्शन से साम्य देखा जा सकता है । “गुह्य समाज” नामक ग्रन्थ में योग की चर्चा आई है । बौद्ध आचार्य अष्टांगयोग न मानते हुए षडंगयोग मानते हैं । प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि बुद्ध योग दर्शन के छः अंग हैं ।

जैन आगमों में योग के सात अंग यो मिलते हैं - महाव्रत, नियम, स्थानयोग, (कायक्लेश) प्रतिसंलीनता, भावना, धर्मध्यान, शुक्लध्यान ।

ध्यान : एक आकलन

ध्यान के सम्बन्ध में पातंजलि योगसूत्र (३/२) में लिखते हैं ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्

तत्र यानि जिस वस्तु पर चित्त की धारणा की हो वही एक जानता-ध्यान है ।

चेतना की सर्वोच्च अकम्प अवस्था : ध्यान - 53

ध्यान के सैकड़ों मार्ग और पद्धतियाँ हैं। सगुण ध्यान, शरीरांतर्गत विविध चक्रों पर किया हुआ ध्यान; निर्गुण ध्यान, किसी तत्त्व, श्लोक उत्तम विचार पर किया हुआ ध्यान; स्थूल, सूक्ष्म, ज्योतिर्ध्यान आदि अनेक प्रकार हैं। साधक को चाहिए कि वह अपनी गुरु परंपरा अथवा संप्रदाय के अनुसार किसी एक प्रकार के ध्यान का अभ्यास करें।

ध्यान साधना के लिए आवश्यक तत्त्व है। साधना का विश्लेषण करते हुए आगम साहित्य में आया है -

धम्मं भगवया तिविहे पन्नता तँजहा, सुअहियं सुज्झायं

श्रुतवास्सियं -

भगवान ने धर्म के तीन प्रकार कहे हैं - स्व-अधीन, सुध्यात और श्रुतपास्वित। इस क्रम में सबसे पहला स्थान स्व-अधीन को है। स्व-अधीन यानि स्वाध्याय। स्वाध्याय साधना का पहला सोपान है। इसके बाद सुध्यात तथा श्रुतपास्वित का क्रम आता है। उपनिषद साहित्य के अनुसार ये तत्त्व चिन्तन, मनन और निदिध्यासन कहलाते हैं। ध्यान से पहले स्वाध्याय की महती आवश्यकता पर बल देते हुए आचार्यों ने कहा है -

स्वाध्यायाद्धानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायमायनेत् ।

ध्यान-स्वाध्याय-संपत्त्या परमात्मा प्रकाशने ।

स्वाध्याय से ध्यान और ध्यान से फिर स्वाध्याय यही साधना का क्रम है। स्वाध्याय और ध्यान की सम्पत्ति से ही परमात्मा प्रकाशित होता है।

ध्यान की विधियाँ -

ध्यान की मुख्यतः दो विधियाँ हैं - विचार-शून्यता की स्थिति और विचार-केन्द्रीकरण, इन दोनों में से किसी को भी लेकर साधना के पक्ष में अग्रसर हुआ जा सकता है। केन्द्रीकरण प्रथम आलम्बन को लेकर चलते हुए अन्ततोगत्वा

54 - अध्यात्म के झरोखे से

विचारशून्यता के महासागर में विलीन हो जाता है। विचारशून्यता की प्रक्रिया कायोत्सर्ग के अन्तर्गत भी की जा सकती है। इसमें जरूरी नहीं कि साधक विचारों का अवरोध करे या उन्हें दबाये रखे, जरूरी इतना ही है कि वह साक्षीभूत हो जाये या उनमें उसका दृष्टापन का जो भाव है उसे हटा ले। देह से तादात्म्यकरण धारणा की स्थिति में टूट जाता है। मन का विचारमय क्रिया-प्रतिक्रियामय रूप ध्यान की स्थिति में मिटने लगता है। साक्षी की भूमिका जितनी तीव्र होने जाती है उतने विचार विलीन हो जाते हैं। विचारशून्यता की यह अवस्था शुद्ध चैतन्यरूपी है।

विचारशून्यता के साथ ही मन का अचेतन या अवचेतन के नाम से जाना जाने वाला अंश चेतना के प्रकाश में आता है। यह अंश ही सारे शरीर का नियन्त्रक होता है। शरीर के साथ तादात्म्य कम होता जाता है तो दूसरी ओर उस पर नियंत्रण भी बढ़ता जाता है। देह की हर क्रिया प्रतिक्रिया प्रतीत होने लगती है। और उसकी प्रतीति के साथ ही इच्छा द्वारा उसका नियंत्रण भी संभव होता जाता है। देह के तमाम संदर्भ कट जाते हैं। जैविकीय मूल प्रेरणायें (Incentives) विलीन हो जाती है। यह स्थिति निरावरण शुद्ध चैतन्य की स्वस्वरूपानुभूति की स्थिति होती है। जहाँ इच्छाओं, वासनाओं, भावनाओं, देह मन की समस्त क्रिया-प्रति क्रियाओं का निरसन हो जाता है। शरीर और मन के आवरण गिर जाते हैं, रह जाती है निराकार और अनन्त चेतना। यह चेतना वैश्विक चेतना से संलग्न हो जाती है। नर से नारायण, प्राणी से प्रभु, शव से शिव, पशु से पशुपति। 'स्व' से सर्व की यात्रा सम्पूर्ण हो जाती है।

डार्विन के विकासवाद का स्थान आज बर्गसां तथा अलेक्जेंडर के सृजनात्मक विकास वाद ने ले लिया है। आज का वैज्ञानिक जगत् उसे मान्यता दे रहा है उसकी आधारभित्ति का स्वरूप सांख्य एवं योग, बौद्ध तथा जैन दर्शन के ही सिद्धान्त सूत्र है।

ध्यान के विचार में ध्यानमार्ग के चौबीस प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें से पांचवा प्रकार कला और छठा महाकाल जो समाधि के प्रकार है उनमें प्राण सूक्ष्म हो जाता है। आचार्य पुष्पमुनि ने महाप्राण ध्यान का प्रारम्भ किया। महाप्राण ध्यान को ध्यान संवर

योग भी कहा जाता है। भद्रबाहु स्वामी ने महाप्राण ध्यान की साधना की थी। यह ध्यान बारह वर्षों में सिद्ध होता है।

जैन परम्परा में महाप्राण ध्यान प्रचलित रहा है। यह ध्यान प्राणायाम के साथ ही किया जाता है।

“पासनाहचरिय” में ध्यान संबंधी कुछ गाथाएं उद्धृत हैं। उनमें ध्यान की प्रक्रिया बताई है। एक गाथा का आशय यह है - पर्यक आसन मन, वचन और शरीर की चेष्टा का निरोध नासाग्र पर दृष्टि तथा श्वासउश्वास का मंदीकरण करने वाला ध्याता होता है।

जैन साधकों की ध्यान पद्धतियों में चलते-चलते ध्यान करना एक पद्धति है। उनकी मान्यता है कि लम्बे रास्तों में चलकर प्रकृति के आनन्द को लूटना-ध्यान की ओर गति है। भिन्न भिन्न जैन साधकों से वार्तालाप करना भी ध्यान की ओर जाना है। ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी में चीन में जैन साधक दूर-दूर तक सत्य की खोज में जाते हैं और जहाँ सुरम्य स्थल, पहाड़ आदि आता वही रुक जाते हैं। ध्यान की विभिन्न प्रक्रियाओं में तल्लीन हो रह जाते हैं।

जैन परंपरा में बैठकर ध्यान करने की पुष्ट परंपरा मिलती है। बैठना शरीर से नहीं मन से भी होना चाहिए। तनावमुक्त शरीर, मिताहार, एकान्त स्थान पद्मासन, एकाग्रता, मन की शून्यावस्था इस बैठने के कुछ पक्ष हैं। डोजन नामक एक जैन साधक का तो कथन है - *sitting is the gateway to truth to total liberation.*

प्राचीन समय में जैन साधक हजारों मील घूम सच्चे गुरु की खोज करते थे। गुरु तथा इन साधकों के बीच हुए प्रश्नोत्तरों को संकलित किया गया। गुरुओं की ज्ञानगरिमा तथा साधकों की गंभीर जिज्ञासाओं ने एक सुन्दर साहित्य का सृजन कर डाला। वे चीनी भाषा में ‘कुंग अेन’ तथा जापानी भाषा में ‘कोन’ कहलाते हैं।

‘कोन’ का सामान्य अर्थ है - पहेली। जो भी साधक ध्यान करना चाहता था उसे ऐसी पहेलियों से जूझना पड़ता था, ‘इनमें बौद्धिक व्यायाम कम और

आन्तरिक प्रयत्न अधिक होते थे। वे पंक्तियां साधक को ध्यान में अग्रसर करने में मदद पहुँचाती थी। कुछ पहेलियां यों है -

नाक सीधा क्यों है ?

आंखे दो क्यों है ?

आंखें समानान्तर में क्यों ?

ध्यान का अर्थ :

ध्यान का सीधा अर्थ है सजगता। भगवान महावीर ने उसे अप्रमाद कहा, अ-मूर्च्छा कहा है। ध्यान-चित्त की वह निर्मल अवस्था है जहाँ राग और द्वेष को अवकाश नहीं। समता की स्थिति अथवा शुद्धोपयोग ध्यान है।

ध्यान प्रक्रिया से अन्तर्यात्रा सुलभ होती है। चित्त ध्येय में लीन बनता है, 'मन का केवल ध्येयनिष्ठ बनना या विलीन हो जाना ध्यान नहीं है। शरीर और वचन की भी एकरूपता आवश्यक है।

ध्यान अन्तरंग स्थिति है 'वह चेतना की सर्वोच्च अकम्प अवस्था है। इस अवस्था में हमारे भीतर का अवास्तविक प्रकंपित हो जाता है और मूल सुरक्षित रहता है। 'इच्छा शरीर, वासना शरीर तथा संस्कार शरीर रूप जो अंतश्चित्त है - उसका परिमार्जन ध्यान से ही संभव हो सकता है। ध्यान अनियंत्रित इच्छाओं पर अंकुश लगाकर दैनिक जीवन को सुव्यवस्थित करता है। आहार, विहार तथा मौन संबंधी अतृप्तियों को भीतर से तृप्त करता है 'व्यक्ति अक्षुब्ध बन जाता है और उसके अंतःस्थल में विवेक का झरना प्रवाहित हो जाता है। धीरे-धीरे निष्कषाय चेतना के धरातल पर सहज शांति, संयम और आनन्द के फूल खिल उठते हैं।

ध्यान का परिणाम है घर लौट आना। यह घर स्थूल घर नहीं है। यह घर है वह सूक्ष्म आवास जहा आत्मा का वास रहता है। ध्यान सारे विस्तार से समेट कर एक बिन्दु पर स्थापित करता है। वह बिन्दु वह केन्द्र फिर सारे कलापों का संचालन करता है। उस संचालन की अवस्था में सारी उहापोह सूक्ष्म हो जाती है. एक स्थिरता व्याप्त

चेतना की सर्वोच्च अकम्प अवस्था : ध्यान - 57

हो जाती है और यह स्थिरता ही ध्यान का चरम होती है। ध्यान का यही मर्म है, यही स्वरूप है और यही है ध्यान की संविधि।

ध्यान जिन्दगी के काफिले को दिशा देता है, आगे बढ़ाता है। 'ध्यान की स्थिरता गति में एकरूपता लाती है। सारी उच्छृंखलताओं पर ध्यान विराम लगाता है। ध्यान मन में स्थित सभी प्रश्नों का योग्य समाधान देता है। ध्यान ज्ञान में भी अभिवृद्धि करता है। ध्यान योग्य व अयोग्य की परख करने का ज्ञान देता है। ध्यान प्रत्येक व्यक्ति को एक अतिरिक्त सजंगता देता है। ध्यान वह अभिज्ञान है जो अन्तर के अध्यात्म के बीज अंकुरित करता है। ध्यान से अन्तराय क्षीण होता है, उससे शक्ति व धृति असीम हो जाती है। मोह क्षीण होता है तो कषाय चेतना समाप्त हो जाती है।

ध्यान एक परिपूर्ण साधना है। ध्यान की प्रथम भूमिका कायोत्सर्ग अर्थात् कायिक ध्यान है। फिर सूक्ष्म श्वास अर्थात् आनापान ध्यान आता है। इसके बाद आता है वाचिक ध्यान यानि मौन। ध्यान में होने वाले सुखद व दुःखद संवेदनाओं से राग द्वेष न उपजे, जो ध्यान के अन्तराल में अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है।

ध्यान एक आलोक से सम्पर्क करता है। यह उत्स प्रदान करता है। ध्यान अन्तर के प्रति विशिष्ट आकर्षण जगाता है। ध्यान मन की टूटन को जुड़न का आयाम देता है। ध्यान मूलतः अन्त योग है। एक ऐसी यात्रा जिसमें भटकन नहीं स्थिरता है। ध्यान अन्तः आयोजन है। इस आयोजन से सारी दिव्यता एक आकार में सिमटती है। ध्यान अपूर्वता सौंपता है। ध्यान उच्चस्थ स्थापिति देता है। ध्यान गहराई सौंपता है। ध्यान नव आयाम देता है। ध्यान के बल पर सारे भटकाव समाप्त किये जा सकते हैं।

ध्यान एक ऐसी संविधा है, जिसे जो चाहे, जब चाहे स्वीकार कर सकता है। इसके लिये किसी धन की जरूरत नहीं होती है। पर एक शर्त इसमें अवश्य होती है कि जो ध्यान से जुड़ना चाहता है उसमें उसे स्वयं ही प्रवृत्त होना होता है। किसी अन्य के माध्यम से या प्रतिनिधित्व से ध्यान को जोड़ना संभव नहीं है। ध्यान स्व

अर्जित उपादान है इसे किसी से दान में नहीं पाया जा सकता है। केवल इसकी विधि आदि ही अन्य से ज्ञात की जा सकती है।

ध्यान में स्थान का विशेष महत्त्व होता है। ध्यान शतक में कहा गया है - मुनि सदा युवती, पशु, नपुंसक व कुशील व्यक्तियों से रहित विजन स्थान में रहे। किन्तु जिन मुनियों ने योग भावनाओं का अभ्यास कर लिया है और जो उनमें स्थिर हो चुके हैं तथा जो ध्यान में अप्रकम्प मन वाले हैं, उनके लिये जनाकीर्ण ग्राम और शून्य अरण्य में कोई भेद नहीं है। जहाँ भी मन, वचन, काया के योगों का समाधान बना रहे और जो जीवों के संगठन से रहित हो वही ध्यान के लिये श्रेष्ठ ध्यान स्थल है।

ध्यान में समय का भी विशेष महत्त्व है। ध्यान शब्द के अनुसार ध्यान के लिये काल वही श्रेष्ठ है जिसमें मन वचन काया के योगों का समाधान बना रहे। ध्यान करने वाले के लिये दिन रात या वेला का नियमन नहीं है।

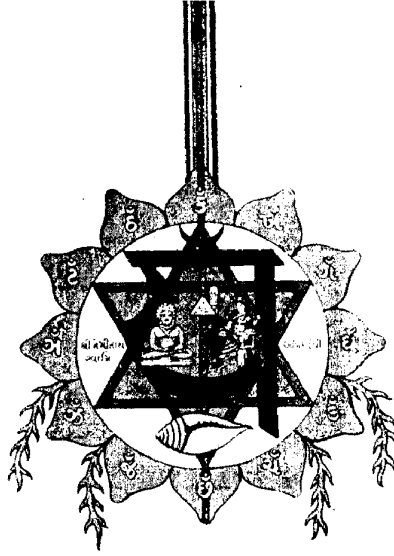
ध्यान के योग्य आसन के बारे में कथन है कि जिस देहावस्था का अभ्यास हो चुका है और जो ध्यान में बाधा डालने वाली नहीं है, उसीमें ध्यान करें। खड़े होकर, बैठकर या सोकर कैसे भी ध्यान करना संभव है।

आगमों में ध्यान के लिए देशकाल आसन का कोई नियम नहीं है। जैसे योगों का समाधान हो वैसे ही प्रयत्न करना चाहिए।

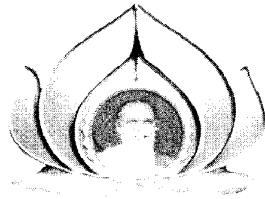
ध्यान में कई निषेध हैं पर वे ध्यान के एकाग्रचित्ति को बढ़ाने के निमित्त ही हैं। ध्यान निपट एकाकी विजय है अतः इसके विरोध में कोई भी बगावत का झण्डा नहीं उठाता है। उसमें किसी भी प्रकार के असन्तोष का सवाल नहीं, उसे अवसर नहीं। ध्यान अपार प्रशान्ति प्रदान करता है। ध्यान के आलोक में समग्र जीवन के समाधान स्पष्ट नजर आते हैं। ध्यान के लोक में शोक को कोई स्थान नहीं। यह असीम आनन्द से सराबोर कर देता है।

ध्यान के चार भेद हैं - आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान। आर्त ध्यान व रौद्रध्यान अशुभ एवं त्याज्य है। वे भव भ्रमण को बढ़ाने वाले हैं। धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान शुभ है, सुगति के कारण माने गए हैं। इष्ट का वियोग,

अनिष्ट की प्राप्ति, चिन्ताओं का चक्र, आर्तध्यान उत्पन्न होने के कारण है। काम योग की तीव्रता भी आर्तध्यान उत्पन्न कर रही है। आत्मा को शुद्ध बनाने वाले ध्यान धर्मध्यान कहलाता है. अत्यन्त पवित्र एवं परम उज्ज्वल ध्यान जिससे आत्मा पवित्र व स्वच्छ बने शुक्लध्यान कहलाती है। शुक्लध्यान में ध्याता के बाह्य संसार के समस्त संबंध टूट जाते है, ध्याता को शरीर का भी भान नहीं रह जाता है। अतः शुक्लध्यान ही योग पर समाधि है। जीवन में अगर अध्यात्म है तो ध्यान भी अवश्य ही होगा।



७_मनुष्य विवेक से चले, विवेक से बढ़े



7—मनुष्य विवेक से चले, विवेक से बढ़े

विवेक या अविवेक ही मनुष्य को आध्यात्मिक उत्स या पतन सौंपता है। बहुधा उत्स की ओर अग्रसर व्यक्ति अविवेक का सहारा लेकर पतन की ओर बढ़ने लगता है, उसी तरह पतन की ओर धकेला जाता व्यक्ति विवेक का सहारा लेकर उत्स को पाने लगता है। इसका सीधा मतलब यह है कि किसी भी क्षण, किसी भी स्थिति में विवेक या अविवेक अपना प्रभाव डाल सकता है। यह तो व्यक्ति के ऊपर है कि वह इनमें से किसे ग्रहण करें। वह जो भी ग्रहण करेगा, उसीके अनुरूप उसकी स्थितियाँ होंगी।

जिसमें विवेक नहीं है, वह औरो के हाथ का खिलौना बन जाता है। वह सुरुचिविहीन हो जाता है। वह दयनीय हो जाता है। वह बदलती हुई स्थिति में अपने को ढाल नहीं पाता है। अविवेक मनुष्य को उन संदर्भों में से परे कर देता है जो उसकी प्रतिभा को विकसित करने में सहायक हो सकते हैं। विवेक से मनुष्य का सम्मान भी होता है। हालांकि कभी कभी अविवेकी भी सम्मान बटोर ले जाते हैं पर वह सम्मान रेत के घरोदे के समान शीघ्र ही धूल धूसरित भी हो जाता है। विवेकी मनुष्य पर एकाएक कोई भी व्यक्तित्व हावी नहीं हो सकता।

आइये, कुछ विद्वद पुरुषों के जागृत विवेक पर दृष्टिपात करें -

- आत्मा के लिए विवेक वैसा ही है, जैसे शरीर के लिए स्वास्थ्य । - **रोची**
- विवेकभ्रष्टों का सौ सौ तरह से पतन होता है ।- **भर्तृहरि**
- नेकी और बदी की पहचान के बगैर इन्सान की जिंदगी बड़ी उलझी हुई रहती है । - **सिसरी**
- कोई भी बात हों, उसमें सत्य को झूठ से अलग कर देना ही विवेक का काम है । - **तिरूवल्लुवर**

तो हमने देखा कि मनुष्य जीवन का अपूर्व गुण है विवेक । विवेक ही आत्मा की ध्वनि सुन पाता है । उसके रहते ही पतन से बचा जा सकता है । उसके बूते पर ही व्यक्ति बदी से नेकी की ओर अग्रसर होता है । और विवेक ही वह हंस है जो दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है । विवेक ही मनुष्य को पाप की स्थिति से उबारता है । उसे पश्चात्ताप की मुद्रा में लाता है । विवेक मनुष्य का वह कौशल है जो उसे भीड़ में भी एक अलग व्यक्तित्व सौंपता है । विवेक वह सुरभि है, जिसकी सौरभ अनेकों को प्रेरित करने की सक्षमता रखती है । विवेक के आलोक से अंधकार में भी ज्योतिर्मयता भर जाती है । विवेक ही से उभरता है किसीके मन में किसीके प्रति गहन श्रद्धा-भाव ।

पांव उसीके जमते हैं जो विवेक से खड़ा है । नसीब उन्हींका चमकता है जो विवेक से पुरुषार्थ में जुटते हैं । विवेक से ही सत्य का जय पथ पाया जा सकता है । विवेक से ही बात में अपेक्षित असर पैदा होता है । विवेक ही अंगारे भरे पथ पर भी चलने की युक्ति देता है. विवेक ही स्वच्छन्द विचारों से किसीको परे रखता है । विवेक व्यर्थ के सपनों से वंचित करता है । विवेक ही आदर्श घड़ता है और उसीके बल पर उसे पाया जाता है । विवेक ही निराशा की गति से निकालकर उत्साह का वातावरण सौंपता है ।

आइये, विवेक पर ही कुछ और कथनों पर नजर डालें -

- बुद्धि और भावना के समन्वय का अर्थ है - विवेक ।
- **विनोबा**

मनुष्य विवेक से चले, विवेक से बढ़े - 63

- सच्चा विवेक इसमें है कि हम सर्वोत्तम जानने लायक जाने और सर्वोत्तम करने लायक करें। - **हम्फरी**
- जो विवेक से काम लेता है, वह ईश्वर विषयक ज्ञान से काम लेता है।

-एपिक्टेटस

भावुकता एक क्षणिक वेग है, तूफान है, बाढ हैं, जबकि विवेक सतत प्रवाह है। विवेक को किसीने बुद्धि और भावना को समन्वित करने का साधन माना है तो किसी-ने विवेक को आधार बनाकर सर्वोत्तम उपलब्धि को प्राप्त करने का संकेत दिया है। किसीने तो विवेक को ईश्वर के प्रति ज्ञान भाव से ही उसे जोड़ दिया है और विवेक में सतत प्रवाह मानवता के तत्व भी खोजे गये हैं। इस प्रकार विवेक व्यक्ति में तर्क सम्मतता लाता है। विवेक कभी-कभी तर्कातीत जानकारियों को भी बटोरता है। विवेक की जितनी अधिक जागृति होगी समझ की आवृत्ति उतनी ही स्पष्ट होगी।

विवेक कहे या अविवेक, प्रत्येक व्यक्ति इनमें से किसी एक को तो चुनता ही है। जरूरी नहीं कि वह एक का ही दामन थामें रहे। वह चाहे तो एक पल विवेक, एक पल अविवेक की स्थिति में रम सकता है। इसका सीधा अर्थ यह भी है कि जन्म भर अविवेक में रमा हुआ व्यक्ति भी अंतिम सांस में विवेक धारण कर सकता है और जन्म भर विवेक से उपकृत रहा - व्यक्ति अंतिम सांस में आर्तध्यान से युक्त रह जाए तो भटक सकता है। संभावना सब प्रकार की है और संभावना को भी निरस्त नहीं करना चाहिए। विवेक एक छोटा सा बीज भी हो सकता है और विस्तृत आकार भी। विवेक को सीमा में नहीं बांधा जा सकता, पर जितना भी है विवेक, विवेक ही है और इसीलिए वह ग्राह्य है। विवेक की ग्राह्यता या अग्राह्यता, उसके आकार पर नहीं, उसकी गुणवत्ता पर निर्भर करती है। विवेक संघर्षों में रहता है, पर वह स्वयं संघर्ष नहीं उपजाता, न ही संघर्ष को समर्थन देता है। विवेक तो अंततः प्रशान्ति की ही रचना करता है। एक बार और हम विवेक के प्रति विभूति कथन पर दृष्टिपात करें -

- विवेक न सोना है, न चांदी है, न शोहरत है, न दौलत है, न तन्दुरस्ती है, न ताकत है, न खूबसूरती है अपितु विकास की आधारशिला है। - **प्लुटार्क**
- शाश्वत का विचार ही विवेक है। - **स्वामी रामतीर्थ**

विवेक का पहला काम मिथ्यात्व को पहचानना है और दूसरा काम है सत्य को जानना। सचमुच विवेक सोने, चांदी, शोहरत, दौलत, सौन्दर्य आदि से भी ऊंची चीज है। विवेक में निश्चय ही एक शाश्वतता है। विवेक से ही तो जाना जाता है कि सत्य क्या है, मिथ्या क्या है, ग्राह्य क्या है और त्याज्य क्या है ? विवेक जीवन को जुड़ाव देता है। विवेक से विकास विनष्ट होता है। विवेक प्रपंचों से परे रखता है। विवेक, व्यक्ति को एक सफल व्यक्तित्व बनाता है। व्यक्ति विवेक अपना कर अपना ही नहीं मानव मात्र का कल्याण करता है। ऐसे कल्याणकारी विवेक के प्रति अनुकूल भाव रखना ही अत्यावश्यक है। विवेक के कारण ही अकेला व्यक्ति कबीले की शकल में ढला। विवेक के बल पर ही व्यक्ति चिन्ता से मुक्त हो जाता है। विवेक ही हर प्रकार के भटकाव का अन्त करता है। जिसका विवेक कायम रहता है, समझो उसे किसी भी यंत्रणा के दौर से गुजरना नहीं पड़ता है।

विवेक एक ऐसी समृद्ध चेतना है, जो न व्यक्ति को कृपण रखती है न उसे कंगाल बनाती है। विवेक तो एक समृद्धि है। विवेक के कारण ही व्यक्ति उन सब विभीषिकाओं व अभिशापों से बचता है जो अविवेकी स्थिति में व्यक्ति को असहाय बना देती है।

गर्नेट के अनुसार - “विवेक तार्किक नहीं बरन जीवन में कौशल या चतुराई का होना है।” आचरण में विवेक ऐसी लोचपूर्ण दृष्टि है जो स्थिति के सभी पक्षों की सम्यक् विचारणा के साथ खोज करती हुई सुयोग्य चुनावों को अवसर देती है। जैन-दर्शन में विवेकपूर्ण आचरण के लिए “यतना” शब्द का प्रयोग हुआ है। यतना के द्वारा जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य सर्वोपरि श्रेष्ठता पाता है।

विवेक सम्मतता सब में एक समान नहीं होती। कहीं कम कहीं ज्यादा। परन्तु जब सम्मिलित रूप से विवेक का उपयोग किया जाता है तो उसका प्रभाव स्पष्ट व पूर्ण पाता है। विवेक अतीत में था, वर्तमान में है, भविष्य में भी रहेगा, क्यों कि अविवेक भी तो साथ- साथ विद्यमान रहा है। अविवेक की स्थिति में ही तो विवेक का मूल्यांकन हो जाता है। विवेक वृत्तिगत वस्तु है। बहुधा किसी व्यक्ति में हर स्थिति में

मनुष्य विवेक से चले, विवेक से बढ़े - 65

सर्वोपरि रखने की वृत्ति पैदा हो जाती है तो कभी किसीमें अविवेक ही अविवेक विद्यमान रहता है और वृत्तियाँ एकबार भी बदला नहीं करती ।

विवेक से यदि कार्य हो तो आतंक को पैर जमाने का मौका नहीं मिलता । विवेक एक उदार दृष्टिकोण को पनपाता है । विवेक श्रेष्ठ प्रणाली का विचार एक अधोषित वचन है । विवेक उन सब तथ्यों को रोकथाम करता है जो विकार को पनपाने में मददगार होते हैं । विवेक मनुष्य के उन आचरणों की जांच-पड़ताल करता है जो मनुष्य को पतन के गर्त में धकेलने में जुटे हुए होते हैं । विवेक हर प्रकार के रोष को खत्म करता है । जिस मनुष्य के मस्तिष्क में विवेक एक बार पैर जमा लेता है, उस पर फिर कभी अभिशाप की छाया नहीं पड़ती । विवेक अर्जित कर कई व्यक्ति उसे अन्यों में बाँटने की वृत्ति भी रखते हैं । उनके विवेक का लाभ अन्यों को भी मिले, इस भावना से वे औरों से सम्पर्क करते हैं, या लोग उनके संपर्क में आते हैं । कल्याण भावना से ओत-प्रोत ऐसे व्यक्ति समाज में ऊंचा स्थान पाते हैं । विवेक यदि अन्यों को लाभ पहुंचाकर मानवता को दयनीय अवस्था से मुक्त करता है तो यह उसकी सार्थकता होती है । विवेक के कारण जब भी कोई समस्या का निदान होता है तो उसे भी हर कोई स्वीकार करने में गौरव महसूस करता है । विवेक ही मनुष्य को विवेकी, विनम्र और विनयी बनाता है । दशवैकालिक सूत्र का यह कथन विवेक के महत्त्व को स्पष्ट करता है । जागृत विवेक में पाप बंध नहीं होगा । जिज्ञासु द्वारा प्रश्न किया गया - मनुष्य कैसे चले, कैसे ठहरे, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे खाये और कैसे बोले कि पाप कर्म का बन्ध नहीं हो ? उत्तर स्पष्ट था - मनुष्य विवेक से चले, विवेक से ठहरे, विवेक से बैठे, विवेक से सोये, विवेक से खाये, विवेक से बोले तो पाप-बन्ध नहीं होगा । दोष व्यक्ति का उसका अपना प्रमाद है । त्रुटि होना कोई बड़ी बात नहीं है । त्रुटि को विवेकपूर्वक सुलझाया जा सकता है ।

विवेक कभी भी आधारहीन नहीं होता है । विवेक से हर समस्या का सहज समाधान पाया जा सकता है । विवेक से सभी का भला होता है । विवेक हिंसा से, चौर्य कर्म से, संयमहीनता से, परिग्रह से, असत्य से मानव को बचाता है । विवेक

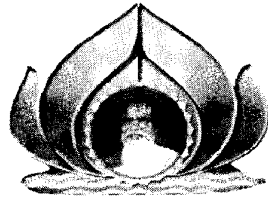
रखनेवाला सबकी सहानुभूति पाता है । विवेक किसी एक की बपौती नहीं है । विवेक कोई भी अपना सकता है । जिस मनुष्य में विवेकशून्यता होती है, उसे अनेक प्रकार की हानिया झेलनी पड़ती है । अविवेकी मनुष्य बनते काम बिगाड़ देता है । विवेकी विचार सजाता-संवारता है । विवेकहीन की मूर्खता भी मूर्खता की श्रेणी में आती है । जीवन में विवेक को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया जाना चाहिए । आध्यात्मिक उत्कर्ष का आधार विवेक है । विवेकी वह है जिसे हेय, उपादेय का बोध है । सम्यक् बोधपूर्वक समुचित दिशा में गति करनेवाला आध्यात्मिक सिद्धियों को उपलब्ध कर लेता है ।



मनुष्य विवेक से चले, विवेक से बढ़े - 67



∞_धर्म : एक आदर्श जीवन शैली



४ — धर्म : एक आदर्श जीवन शैली

धर्म में स्थित होना सहज नहीं है। लोग किसी धर्म परंपरा में, विश्वासु परिवार में जन्म लेकर सोचते हैं कि वह उनका धर्म है, वे अधिकारपूर्वक उस धर्मपरंपरा के घटक बन गये हैं। पर आवश्यक नहीं कि यही सत्य हो, यही तथ्य हो। उनका आचरण उस धर्म के विपरीत भी हो सकता है। जीवन में संतुलन होते हैं तो असंतुलन भी हो सकते हैं। विशुद्ध आचरण ही धर्म के मार्ग को बनाता है, प्रशस्त करता है, धर्म की रूझान है तो धर्म से विमुखता के कारण भी, आकर्षण भी प्रबल है। मनुष्य मात्र की मनोवृत्ति चंचल है। जो धर्म को त्याग देता है और जो दुष्प्रवृत्ति के वश होता है, धर्म की उपेक्षा वही करने लगता है। जो धर्म को एक पक्षीय मानता है, वह भी धर्म के मूल भाव से पृथक हो जाता है।

**लब्भंति विमला भोए, लब्भंति सुर संपया ।
लब्भंति पुत्तमित्तं च, एगो धम्मो न लब्भई ॥**

आगम का यह उक्त कथन कितना सटीक है - सांसारिक विपुल भोगों को आसानी से पाया जा सकता है, स्वर्गीय संपदा भी उपलब्ध हो सकती है। पुत्र, मित्रों का संयोग भी सुलभ है, लेकिन धर्मोपलब्धि दुर्लभ है।

कई लोग, धर्म के निर्वाह में अहं के पोषण को ही अधिक महत्त्व देते हैं धर्म की ओट में कई लोग सामाजिक दायित्वों से जी चुराते हैं।

धर्म को आत्म-पवित्रता से ही कुछ लोग ही जोड़ पाते हैं। लोग, धर्म में प्रवृत्ति करते हैं पर उसके पीछे लोगों की प्रदर्शन वृत्ति प्रमुख होती है। वे चाहते हैं कि अन्य लोग यह जाने कि वे धर्म की क्रिया में निमग्न हैं। जब वे धर्म की क्रियाओं में संलग्न होते हैं तो मन के घोड़े कहीं और दौड़ने में लगे रहते हैं। वे जिन क्षेत्रों में दौड़ते हैं बहुधा वह धर्म का क्षेत्र नहीं होता है। प्रकाश की गति से भी तेज गति से दौड़ता है मन। चेतना-शक्ति से ही हमारा मन, सारी इन्द्रियां संचालित होती है ये चेतना धर्म की हो, जरा भी जरूरी नहीं है। आस्था का दीप जिस स्नेह से प्रज्वलित होता है उसमें धर्म की चेतना का आलोक ही जरूरी नहीं। धर्म आज शोभा मात्र बन गया है।

श्रीमद् राजचन्द्र का कथन है - कलिकाल में दुर्लभता बढ़ी है। अनेक प्रकार के सुखाभास के प्रयत्न हो रहे हैं। धर्म मर्यादा का तिरस्कार होने लगा है। धर्म द्वारा भी मोक्ष साधने के पुरुषार्थ की विलुप्ति हो गई है। आत्मा अनंत त्यागी है। आत्मा सब कुछ त्याग कर धर्मध्यान चाहती है। जबकि मन कहता है कि पहले सुख भोग लो। धर्म वस्तु का स्वभाव है, समता भाव धर्म है, पर धर्म के काम में चित्त कौन लगाता है। अभिमानी पुरुष अपने धर्म का नाश ही कर डालता है। धर्म में जो उच्चता दर्शाता है, दूसरों को तुच्छ समझता है वह मान है। धर्म वह है, हमें जो आत्मज्ञान दिलाता है।

धर्म चैतन्य है, धर्म अनन्य है, धर्म में उत्फुल्लता समाविष्ट है। किन्तु जो इन सबसे अनभिज्ञ है वह विवश है, वह हताश है, वह है विडम्बना का प्रतीक। अनभिज्ञता ही वास्तव में विडम्बना है, विवशता है। इसीलिए तो धर्म के जागरण का महत्त्व है। उसीका उद्बोध संत देते हैं। धर्म पूंजी है, आज धर्म को अधर्म के अर्थ में लिया जा रहा है। धर्म गति का माध्यम है, रूकने से वह वंचित है। आज धर्म के मूल को ही भुला दिया गया है। धर्म व्यक्ति को मृत्युंजयता की ओर ले जा रहा है। हर धर्म का आदर्श है एक दूसरे से सहयोग। धर्म, आत्मा से साक्षात्कार ही ओर से ले जाता है। आत्मा की प्रत्यक्षता से अनंत शक्ति का मान हो जाता है।

आत्मा के सम्पूर्ण अवलम्बन में ही रहना धर्म बुद्धि है। आत्मा ही सब से बड़ी शरण है।

धर्म शुद्ध हृदय में निवास करता है। निष्पाप सरल और शान्त हृदय में धर्म वास करता है। एक गृहस्थित को इस तथ्य का बोध एक संन्यासी ने बड़े ही अच्छे ढंग से दिया-संन्यासी भिक्षार्थ गये। पहुंचे तो देखा कि गृहस्वामिनी अपने पति से झगड़ रही है, अपशब्द कह रही है। संन्यासी उस द्वार से लौट लगे, पर उसी समय पति के प्रस्थान कर जाने पर गृह स्वामिनी ने लौटते हुए संन्यासी से कहा-
- संत प्रवर ! आज घर में कलह होने से मैं कुछ भी बना नहीं पाई। कृपा कर कल अवश्य पधारें, पर कृपा कर के मुझे आज कुछ उपदेश तो सुना जाइये। संन्यासी ने कहा - देवी ! मैं उपदेश भी कल ही सुनाऊंगा।

दूसरे दिन संन्यासी भिक्षा लेने आया। महिला ने खीर बनाई थी। महिला श्रद्धा से भर कर खीर की भिक्षा देने आई। संन्यासी से कमण्डल बढ़ाया तो महिला यह देखकर चौंक पड़ी कि कमण्डल में तो मिट्टी पड़ी हुई है। वह रूक गई।

संन्यासी ने कहा - देवी ! डालो खीर ! महिला पेशोपश में पड़ गई। बोली - संत प्रवर ! इसमें तो गंदी मिट्टी पड़ी है, भला उस पर खीर कैसे डाली जा सकती है ? इस पर संन्यासी ने कहा - जैसे मिट्टी की गंदगी पर खीर नहीं डाली जा सकती वैसे ही क्रोध, ईर्ष्या से भरे हृदय पर पवित्र उपदेश नहीं उड़ेला जा सकता।

वह महिला समझ गई कि उसके द्वारा पति से झगड़ा व अपशब्द से उसका मन गंदा हो गया है और उस पर धर्म का बोध नहीं ठहर सकता। महिला ने संन्यासी के समक्ष उसी समय हृदय को पवित्र बनाये रखने का संकल्प किया। संत ने इस पर महिला को धर्म बोध दिया।

सामान्यतः आचार और व्यवहारों की संविधा के पालन को धर्म कहा जाता है, पर मात्र इन्हें धर्म मान लेना भ्रान्ति है। धर्म की आत्मा विवेकपूर्ण जीवन दृष्टि में है। सद्गुण का आचरण धर्म है। धर्म की आत्मा विवेकपूर्ण जीवनदृष्टि में है। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले के अनुसार - 'जो धर्म अनैतिकता का सहगामी है, वस्तुतः वह धर्म

72 - अध्यात्म के झरोखे से

नहीं, अधर्म है। धर्म एक जीवन-शैली है। धर्म वह है जो जीवन में गहराई तक ढाला जाता है। धार्मिक भावनाएं जब भी कमजोर होती हैं अधर्म को प्रश्रय मिल जाता है। अतः अधर्म को नहीं अपितु धर्म को मजबूत करें।

धर्म, अमृत स्वरूप है। विवेक के अभाव में धर्म को उल्टे रूप में ग्रहण करने से वह अधर्म हो जाता है। विवेक के बिना निष्प्राण है धर्म ! विवेक में धर्म निहित है, विवेक धर्म का प्राण है। धर्म का स्थान गौण हो रहा है आज ! धर्म जीवन का मार्गदर्शक दीप है। विवेक से सम्पन्न व्यक्ति ही आत्मा को उज्ज्वल बनाता है, पथ प्रदर्शक बनाता है। धर्म की ज्योति जहाँ जगी हो वहाँ पर कल्याण होता है। जब तक मनुष्य के अंतस में धर्म की ज्योति का वास नहीं होता, निरर्थक है उसका जीवन। धर्म ही उत्कृष्ट श्रद्धेय है। धर्म के संदर्भ में अपने मनोभाव यूँ प्रकट किये जा सकते हैं -

**धर्म जीवन का उत्कृष्ट आधार है,
धर्म आत्मा का उत्तम प्रकार है
धर्म ही है अंतिम शरण मनुष्य की
धर्मनिष्ठ ही प्रभु रूप साकार है।**

धार्मिक की कसौटी है - सहिष्णुता, स्थिति के अनुरूप हो जाने की क्षमता। धार्मिक सत्य पर सदा दृढ़ रहता है। धार्मिक दुःख के क्षणों में बिलखता नहीं है।

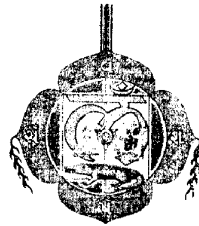
धर्म, जीवन की कला है। जो जीवन जीने की सही कला जानता है वही सही अर्थ में धार्मिक कहा जाता है। निर्मल चित्त का आचरण ही धर्म है। चित्तवृत्तियों का निरीक्षण-परिष्करण धर्म है। आत्महित के साथ ही परहित धर्म है। जहाँ अहित होता है - वहाँ अधर्म स्थित है। आत्मोदय-सर्वोदय का सामंजस्य धर्म है। जीवन मूल्यों के लिए धर्म साधना है। मंगलमय जीवन को जीना ही धर्म है। धर्म वस्तुतः एक आदर्श जीवनशैली है। धर्म के पालन का मुख्य उद्देश्य श्रेष्ठता है। उसका परिपालन कर हम मानव बनें। धर्म भेद-भरी दीवारों को तोड़ने का प्रयोग है।

धर्म : एक आदर्श जीवन शैली - 73

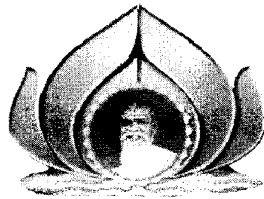
धर्म असीम उज्ज्वलता है। धर्म की प्रभावना के लिए मनुष्य को प्रभावी रूप से प्रयास करना चाहिए। धर्म श्रद्धा से प्रवर्तित होता है और श्रद्धा से ही संचरित व संचालित होता है। श्रद्धा व निष्ठा धर्म के अन्तः प्राण है। श्रद्धा व निष्ठा आत्मा की प्रवृत्ति है। धर्म अभय से जुड़ा है। वही धर्म की यात्रा का आदि व अंतिम बिंदु है। धर्म का क्षेत्र आत्मानुशासन का मुख्य क्षेत्र है। धर्म परिवर्तन लाता है। आंतरिक परिवर्तन से जीवन परमार्थी बनता है। धर्म उत्कृष्ट मंगलमय है। धर्म मानवीय सद्गुणों का जीवन में विकास करता है।

धर्म संवेदनशील बनाता है। उचित-अनुचित की परख धर्म ही करता है। सरलता से युक्त आत्मा की शुद्धि होती है और ऐसी आत्मा में ही धर्म स्थिर होता है। धर्म शाश्वत है, यह दुर्भाग्य का विषय है कि धर्म आज श्रद्धा की बजाय, आडम्बरपूर्ण हो गया है। धर्म तो आत्मा की निर्मल परिणति है। धर्म सार्वभौम सत्य है। धर्म अंधकार से प्रकाश की यात्रा है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। धर्म उस तक पहुंचने का मार्ग है। सभी धर्मों की आत्मा या अंतरंग रूप धर्म तत्त्व है। जो धर्म अन्य धर्मों को बाधा पहुंचाता है। वह धर्म नहीं, कुधर्म है। अंततः पंडित नेहरू का यह कथन दृष्टव्य है - आदमी धर्म के लिए झगड़ेगा, उसके लिए लिखेगा, उसके लिए मरेगा पर उसके लिए जियेगा नहीं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि धर्म को जीवनव्यवहार में जिया जाए। जो धर्म जीवन के व्यवहार में आता है, उसीका महत्व है। अन्त में पुनः यही कहना चाहूंगा कि आध्यात्मिक पक्ष के प्रबल, प्रखर एवं उन्नत-समुन्नत बनाने के लिए धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा जाए और उसे हृदय में धारण किया जाए।



ॐ_अध्यात्म-साधना का प्राणतत्व : सामायिक



७_अध्यात्म-साधना का प्राणतत्त्व : सामायिक

सा मायिक जैन परंपरा का एक आवश्यक अंग है। अध्यात्म अर्थात् आत्मा के अध्ययन में सामायिक साधना पूरा-पूरा सहयोग करती है। उस अवधि में मनुष्य पूर्ण रूप से साधना में से संलग्न हो जाता है। जीवन के अन्तर-बाह्य संघर्षों से परे होकर प्रशांति के क्षणों में डूब जाने का नाम ही सामायिक है। निर्मल पवित्र आध्यात्मिक जीवन जीने में सामायिक का बड़ा योगदान रहता है। सामायिक-आत्म साधना है। जीवन में समभाव को लाने के लिए यह सहायक है। यह उपक्रम मनुष्य को शुभ के चिंतन में प्रवृत्त करता है। मनुष्य के विवेक को जागृत करता है।

सामायिक के अनमोल मोल को दर्शाता है यह कथन -

दिवसे-दिवसे लक्खं देइ,

सुवण्णस्स खंडियं एगो ।

एगो पुण सामइयं करेइ

न पहुप्पए तस्स ॥

एक आदमी प्रतिदिन लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान करता है और दूसरा मात्र दो घड़ी सामायिक करता है, तो स्वर्ण मुद्राओं का दान करने वाला व्यक्ति सामायिक करनेवाले की समानता प्राप्त नहीं कर सकता। सामायिक जैन साधना परंपरा का प्राणतत्त्व है। षडावश्यक में सामायिक का प्रथम

स्थान है। सामायिक श्रमण व श्रावक दोनों के लिए आवश्यक है। सामायिक, आध्यात्मिक अभ्युदय एवं मोक्ष प्राप्ति का मुख्य अंग है।

देखा आपने, हमारी साधना में सामायिक का कितना बड़ा महत्त्व है ! सामायिक जैनत्व को प्रकट करने का साधन है। जैसे नमाज को करने वाला स्पष्ट ही मुसलमान नजर आता है, ठीक उसी तरह से सामायिक की विधि सम्पन्न करता है, वह अध्यात्म के आचरण में गहराई में उत्तर आता है। सामायिक, मानव को मानवीयता से जोड़ता है। सामायिक करने से सहिष्णुता में अभिवृद्धि होती है, जो सामायिक सम्पन्न करता है, वह अपनी आत्मा के स्वरूप को समझता है।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने सामायिक के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा -

सामायिक विशुद्धात्मा, सर्वथा घातिकर्मणः ।

क्षयाद् केवलमाप्नोति, लोकालोक प्रकाशकम् ॥

सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा, ज्ञानावरण आदि घाति कर्मों का सर्वथा अर्थात् पूर्ण रूप से नाश कर लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है। सामायिक रजकण को पहाड़ के समान विशालता प्रदान करता है। सामायिक ऐसा अभिनन्दनीय उपक्रम है - जिसके माध्यम से शून्य में भी विशुद्धता का समावेश होता है। सामायिक लघुत्तम को महत्तम बना देता है। सामायिक मन को सर्वकालिक विचार-लब्धि से मिलाता है। सामायिक के क्षणों में आर्त-रौद्र आदि की अवस्थिति नहीं होती। वह अध्यात्म के केन्द्र से जुड़ा होता है, इस स्थिति में उसके हर व्यवहार में धर्म और केवल धर्म रहता है। यदि मानव अपने धर्म को भूल जाएगा तो उसके जीनें का अर्थ ही नहीं रह जाएगा। सामायिक, मनुष्य को दीप्ति से प्रकाशित कर आत्म रूप बनाती है। सामायिक, मनुष्य को क्षण-क्षण सत् चिंतन में प्रयुक्त करता है, यह प्रयुक्ति जहाँ उसकी जीवन दिशा को प्रशस्त करती हैं, वही मनुष्य को परमात्मा में विलीन कर देती है।

सामायिक की साधना को हम उत्कृष्ट साधना कह सकते हैं। जितनी भी अन्य साधनाएं हैं, वे सामायिक में अंतर्निहित हो जाती हैं। समता के बिना सामायिक

अध्यात्म-साधना का प्राणतत्त्व : सामायिक - 77

निष्प्राण है। सामायिक के अनमोल होने का तथ्य पूणिया श्रावक के प्रसंग में मिलता है। भगवान महावीर के निर्देश पर सम्राट श्रेणिक लाखों रूपये लेकर पूणिया श्रावक के पास सामायिक खरीदने गये, पर लाखों रूपये तो क्या, अपना सम्पूर्ण साम्राज्य दे कर भी, वे एक सामायिक नहीं खरीद पाए। कथा इस प्रकार है -

मगध सम्राट श्रेणिक ने एक बार भगवान महावीर के चरणों में अपनी भावी गति के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा तो भगवान ने कहा - तुम यहां से आयुष्य पूर्ण कर के नरक में जाओगे। भगवान ने आगे कहा-तदन्तर तुम्हे प्रभुमय जीवन प्राप्त होगा, देव, गुरु और धर्म के प्रति तुम्हारी श्रद्धा दृढ़ रहेगी। पूर्व कृत अशुभ कर्मों को भोग कर क्षय करोगे और आगामी भव में तुम तीर्थकर बनोगे। मैं तीर्थकरत्व को उपलब्ध करूंगा, इस कथन को प्रभु से श्रवण कर श्रेणिक का मन प्रमुदित बना, पर उसे नरकायुबंध के कारण नरक में तो जाना ही पड़ेगा। श्रेणिक अत्यंत पीड़ित एवं चिंतित हो उठा। उसने बार-बार निवेदन किया - प्रभो ! ऐसा कोई तरीका हो तो आप बताइये जिससे मेरा नरक में जाना टल जाए। प्रभु ने जो तरीके श्रेणिक को नरक से बचने के लिए प्रदान किये, उन तरीकों में पूणिया श्रावक से एक सामायिक खरीदने का विकल्प भी रखा था।

यह विकल्प प्रभु ने इसीलिए रखा था कि श्रेणिक नियति के सत्य को जान लें एवं सामायिक के महत्त्व को भली-भाँति समझ लें। श्रेणिक ने सत्य को जान लिया और वह अपने भावी के प्रति तत्पर हुआ। श्रेणिक ने जान लिया कि आत्मा के अभ्युदय के लिए, आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए सामायिक का साधन-सशक्त साधन है। विषमता के कारण ही आत्मा कभी तिर्यच गति में कभी नरक में, तो कभी मनुष्य योनि या देव गति में अनादि काल से परिक्रमा कर रहा है। यह परिभ्रमण तबतक रहेगा जबतक आत्मा, अपने आपसे, अध्यात्म से कटकर कर्म बंध करता रहेगा।

सामायिक की शुद्धता एवं महत्ता पर सूत्रकृतांग में कथन है -

**जो समो सव्व-भूएसु तसेसु थावरे सु य ।
तस्स सामाइयं होइ केवलि भासियं ॥**

78 - अध्यात्म के झरोखे से

जो त्रस और स्थावर, समग्र जीवों पर समभाव रखता है, उसकी सामायिक शुद्ध सामायिक है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है। साधु जीवन की सामायिक सर्वव्रती और गृहस्थ जीवन की सामायिक देशव्रती कहलाती है। जैसे शरीर की पुष्टि के लिए भोजन आदि आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मबल बढ़ाने के लिए सामायिक जरूरी है।

सामायिक कायिक चेष्टा से अधिक, मानसिक प्रयास है। मानसिक प्रशांति, संतुलन और समतोलन के लिए सामायिक का विधान किया गया है। चांचल्य को स्थिरता और भटकाव को योग्य मार्ग इसी विधि के द्वारा प्रदान किया जाता है। सामायिक एक प्रकार से आत्म-रमण है। मनुष्य जन्म वस्तुतः पुण्य से मिला है। यह पुण्य, धर्म की प्रक्रिया के लिए अपने को प्रवृत्त करने में सहभागी हुआ करता है। जीवन का कल्याण ऐसी ही क्रियाओं से संभव है। धर्म क्रियाओं की श्रेष्ठता के लिए कहा जाता है -

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण ।

धर्म पंथ साधन बिना, जीवन पशु समान ॥

मन का शांत होना ही जीवन में अध्यात्म का प्रारंभ है। शुद्ध मन और सात्त्विकता का नाम ही महावीर की दृष्टि में सम्यग् दर्शन है। इस स्थिति के लिए सामायिक का अपना विशेष महत्त्व है -

चित्त शुद्ध होता, मन निर्मल, आती अध्यात्म जागृति

प्रशांति से अलंकृत होती इससे मनुष्य की आकृति

आत्मशोधन का श्रेष्ठ स्वरूप है यह सामायिक -

एक मुहूर्त की इस क्रिया की करो नित्य आवृत्ति ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामायिक वह क्रिया है, जो हमें प्रमाद से बचाती है, और विकृति से परे रखती है। जीवन की उठान में इस क्रिया का अमूल्य योगदान रहता है। हर पल हर क्षण जीवन को उत्स की ओर अग्रसर करने में एक मुहूर्त अड़तालीस मिनिट का यह उपक्रम अत्युत्तम है। समभाव में रहने के लिए इसका

सम्बल, बहुत बड़ा सम्बल है। मनुष्य यदि इसमें रम जाए तो यह निश्चित है कि वह तिर जाए, मुक्त हो जाए। यह हर प्रकार के विभ्रमों से निकलने के लिए श्रेष्ठ विधि है। सामायिक चैतन्य का प्रतीक है। इससे जीवन में आध्यात्मिक तेज प्रकट होता है।

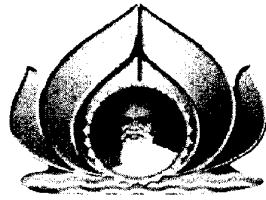
साधना का क्रम निरंतर चलना चाहिए। निरंतरता से एक प्रभाव स्थापित होता है। साधक को परिषहों पर विजय पाने की शक्ति प्राप्त होती है। मन का दृढ़ निश्चय ही मोक्ष मार्ग में गतिशील रखता है। सामायिक मुख्यतः अध्यात्म से जुड़ा उपक्रम है। सामायिक के द्वारा सांसारिक फल की आकांक्षा ऐसे ही है जैसे चिंतामणि रत्न देकर बदले में कोयले की चाह करना।

आध्यात्मिक-बल, संसार में सबसे बड़ा बल है। अध्यात्म-बल यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक समस्या का हल है। जिसके पास में अध्यात्म का बल विद्यमान हैं, वह कभी कहीं भी पराजित नहीं होता। वह तो सुखों से समृद्ध बनता ही है - जो भी अध्यात्मनिष्ठ व्यक्तित्व की सन्निधि में पहुंच जाता है वह अपने दुःखों का सहज ही अवसान करने में सफल हो जाता है। तनबल, धनबल, परिजनबल, सत्ताबल किसीके पास कितना ही क्यों न हों, अध्यात्मबल के अभाव में सारे बल अपूर्ण हैं। सामायिक अर्थात् समत्व की साधना से अध्यात्म-बल उत्तरोत्तर बढ़ता है इस बल को, सामायिक से जुड़कर बढ़ाने का प्रयास रहना चाहिए। सामायिक अभय की साधना है, समत्व की साधना है।

जैसा कि प्रारंभ में व्यक्त किया जा चुका है सामायिक का अर्थ समत्व भाव है। समत्व, एक प्रकाश है। जब-जब भी जीवन में समत्व का प्रकाश जगमगता है, तब-तब आत्मा का वैभव जागता है। शास्त्रों का कितना ही ज्ञान क्यों न हो, समत्व का प्रकाश यदि नहीं है तो आध्यात्मिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। समत्व का प्रकाश जीवन में जगमगाएगा तभी जीवन के परम तथ्य को निर्विघ्न रूप से प्राप्त किया जा सकेगा।



ॐ_ आध्यात्मिक विकास की अभिक्रियाएँ



10 — आध्यात्मिक विकास की अभिक्रियाएँ

आध्यात्मिक विकास सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की साधना पर आधारित है। समस्त आत्माओं में प्रज्वलित ज्योतिर्मय आत्म-स्वरूप को देखना एवं उस ज्योति का आदर करना ही यथार्थ दर्शन, यथार्थ ज्ञान है। शुद्ध आत्म ज्योति ही परमात्म-ज्योति है। यही यथार्थ दर्शन है। ज्ञान-दर्शन और चारित्र की पूर्णता ही आध्यात्मिक चरम विकास है, यही मोक्ष है। मोक्ष, व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य है। संसार की अनेकानेक पीड़ाओं से जब मानव ग्रस्त एवं संत्रस्त होता है तो वह उससे मुक्ति पाना चाहता है। मोक्ष चरम पवित्रता है। सर्व पीड़ाओं से मुक्ति, सर्व क्रियाओं से मुक्ति, सर्व कर्मों एवं कषायों से विरक्ति मोक्ष ही तो है। हम जितने पारदर्शी होते जाएंगे, उतने ही पवित्र, उतने ही निष्कलुष बनते जाएंगे, पर इसके लिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप मोक्ष मार्ग पर गतिशील होना आवश्यक है। अध्यात्म का प्रथम चरण सम्यग्दर्शन है। सम्यग् दर्शन को 'सम्यक्त्व' के रूप में जाना पहचाना जाता है। संक्षिप्त में सम्यक्त्व की सरल परिभाषा यही है - वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध एवं उस पर श्रद्धा। सम्यग् दर्शन की उपलब्धि जिन जीवों को होती जाती है - उनमें कुछ आंतरिक विशेषताएं आ जाती हैं। सम, संवेग, निर्वेद अनुकंपा एवं

आस्था सम्यग् दर्शन का लक्षण है। सभी प्राणियों के प्रति तुल्लताबोध अर्थात् सहानुभूति 'सम' है। आत्मा की ओर गति होना 'संवेग' है। उदासीनता, वैराग्य, अनासक्ति 'निर्वेद' है। दुःख से पीड़ित दूसरे व्यक्ति को देखकर, तदनुकूल अनुभूति उत्पन्न होना अनुकंपा है तो पुण्य पाप, कर्म, स्वर्ग, नरक और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना आस्था है।

सम्यग् दर्शन की उत्पत्ति निसर्गज भी होती है तथा अधिगमज भी होती है। इसे हम स्वभाव एवं परोपदेश कह सकते हैं। सम्यग् दर्शन की उपलब्धि होने पर व्यक्ति तीनों प्रकार की मूढताओं एवं आठों प्रकार के मदों से विरत हो कर चलता है। कषायपुष्टि में नहीं अपितु समत्व की साधना में उसका पुरुषार्थ प्रयुक्त होता है। उसके आध्यात्मिक विकास का क्रम उत्तरोत्तर विकास पाता जाता है।

सम्यग् दर्शन उपलब्ध होने का अर्थ दृष्टि संपन्नता है। आचार्य कुंदकुंद के अनुसार सम्यग् दृष्टि वह है जो छह द्रव्य, नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सप्ततत्त्वों में यथार्थ श्रद्धा करे। मोक्ख पाहुड में उल्लेख है - हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्गन्थ गुरु और अर्हत् प्रवचन में जो श्रद्धा है वही सम्यग् दर्शन है। उत्तराध्यायसूत्र में नव पदार्थों में दृढ निश्चय को सम्यग् दर्शन कहा है। कुल मिलाकर सम्यग् दर्शन जीवन जीने की कला का केन्द्रीय बिन्दु है। इसके आधार पर आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

इसी तरह आध्यात्मिक विकास-क्रम में सम्यग् ज्ञान का विकास आवश्यक माना गया है। आगम कथन है -

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए ।

रागस्स दोसस्स च संखएणं, एगन्त सोक्खं समुवेई मोक्खं ॥

सम्पूर्ण, ज्ञान के प्रकाशन से अज्ञान और मोह के परिहार से, रागद्वेष के पूर्ण क्षय से जीव एकान्त सुखरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। आत्मा के दर्पण में, अपने आपको देखना चाहिए, और यह होगा ज्ञान के प्रकाश से ! एक और कथन है -

आध्यात्मिक विकास की अभिक्रियाएँ - 83

**सुबहुंपि सुयमहियं किं काही ? चरण विप्पहीणस्स ।
अंधस्स जहपलिता, दीवसंयसहस्स कोडिवि ॥
अप्पंपि सुयमहीयं, पयासयं हइ चरण जुत्तस्स ।
इक्को वि जह पइवों, सचक्खुअस्सापया सेई ॥**

जैसे अंधे व्यक्ति के लिए करोड़ों दीपकों का प्रकाश व्यर्थ है पर आंख वाले व्यक्ति के लिए एक भी दीपक का प्रकाश सार्थक है, उसी प्रकार जिसके अन्तर चक्षु खुल गये हैं, जिसकी अंतर्यात्रा प्रारंभ हो चुकी है, ऐसे आध्यात्मिक साधक के लिए स्वस्थ अध्ययन भी लाभप्रद है। आत्म विस्तृत व्यक्ति के लिए करोड़ों पदों का ज्ञान भी नितांत निरर्थक है।

स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाता है। आत्मा उस स्थिति में सम्यग् ज्ञान का अर्जन करती है। जो आत्मा का कर्म कलुष सर्वथा मिटा देता है, ज्ञान व दर्शन के आवरणों को हटा देता है। उनमें एक चैतन्य की जागृति होती है। जागरण के संदेश से सभी प्रकार की संकीर्णताओं पर कठोर प्रहार होता है। ज्ञान की धारा के प्रवाह से भारत भूमि सदा ही समृद्ध रही है। हमारे ऋषि-मुनियों ने इस धारा को प्रवाह से सतत संलग्न रखा है।

ज्ञान ही जीवन का सार है। बिना ज्ञान के जीवन, जीवन नहीं है। ज्ञान, अंतर में उदित होता है और पूरे वातावरण को आलोक मय बना देता है। ज्ञान ऐसी संविधा है - जिसके आधार पर मनुष्य की सभी जीविषा सुलझती है। वह अनंत आयामों का स्पर्श करने लगता है। व्यक्तित्व के निर्माण में ज्ञान सर्वोपरि है। ज्ञान से सृजन होता है, ज्ञान से अर्जन होता है। ज्ञान से ही अपरिमेयता की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विश्वास आता है, ज्ञान से अनुशासन आता है। ज्ञान मूर्च्छाओं से परे करता है।

भगवान महावीर ने अपने दर्शन में आत्म-ज्ञान को मूल-विषय बताया है। आपने आत्मा-परमात्मा, कर्म, कर्मफल, लोक, अलोक, धर्म नीति का विवेचन किया है। आपका विवेचन बड़ा सूक्ष्म व तलस्पर्शी है। ज्ञान के क्षेत्र में स्वाध्याय महत्त्वपूर्ण है।

84 - अध्यात्म के झरोखे से

एक बौद्ध भिक्षु कम्बोज सम्राट की राज्यसभा में आया, अपने को विद्वान बताया । उसने अपने को गूढ शास्त्रों और रहस्यों का ज्ञाता बताया, साथ ही धर्माचार्य बनाने की बात जोर देकर कही । सम्राट ने विनम्रतापूर्वक कहा - कृपा कर आप एक बार धर्म ग्रन्थ खंखोल ले । यह सुनकर भिक्षु रोष से भर उठा, फिर भी धर्माध्ययन की आवृत्ति में जुट गया । एक वर्ष बाद पुनः सभा से समक्ष उपस्थित हुआ । सम्राट ने पुनः अपनी बात कही । एक बार पुनः धर्म ग्रन्थों के पारायण का अनुरोध किया । भिक्षु इस दंश से पीड़ित हुआ । फिर भी पुनः तन्मयता से स्वाध्याय में जुट गया । इस बार उसे अपूर्व आनंद मिला । शब्दों के नये-नये अर्थों से वह सम्पन्न हुआ । वह नित्य ही स्वाध्याय में निमग्न रहता ।

वर्ष बीता तो भिक्षु राज्यसभा में नहीं आया । स्वयं सम्राट इस बार नदी तट पर आया और कहा - भिक्षुराज ! पधारिये, आप धर्माचार्य पद को सुशोभित कीजिये, पर भिक्षु निमग्न रहा, उसकी धर्माचार्य बनने की महत्त्वाकांक्षा निर्मूल हो चुकी थी । पांडित्य का अहंकार शून्य हो चुका था, भिक्षु आत्मज्ञान से, अध्यात्म से समृद्ध हो गया था । इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान से, सतत स्वाध्याय से जीवन खिल उठता है । स्वाध्याय जीवन की आध्यात्मिक उन्नति के लिए बड़ा ही उत्तम स्रोत है । भगवान महावीर ने इसीलिए स्वाध्याय को आभ्यंतर तप में स्थान दिया । सम्यक् प्रकार से किया गया अध्ययन ही श्रेष्ठ ध्यान में परिणत होता है ।

भगवान महावीर स्वाध्याय में सतत निमग्न रहे । वे भोजन का त्याग कर सकते थे पर स्वाध्याय का नहीं । उन्होंने श्रमण-श्रमणियों को यह निर्देश दिया कि चाहे जितनी लम्बी तपस्या करे पर स्वाध्याय न छोड़ें । मन का पोषण स्वाध्याय से होता है । स्वाध्याय अचूक साधना है । स्वाध्याय से भीतर स्थित गुणों की अभिवृद्धि होती है ।

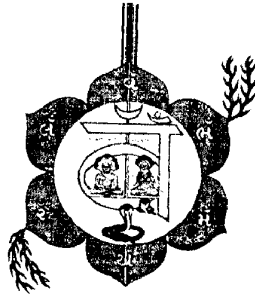
यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि स्वाध्याय तोता रटंत नहीं है । इसमें जो पढ़ा या जाना जाता है उसे जीवन में उतारने की, आत्मसात करने की भी भावना बलवती रहती है । अगर पठित ज्ञान को जीवन से न जोड़ा जाए तो वह ज्ञान खोखला ही रहता है ।

चक्षु से ग्रहण किये शब्दों को अंतर में उतार कर उन्हें जीवन के व्यवहार से जोड़ना ही स्वाध्याय का अभीष्ट है ।

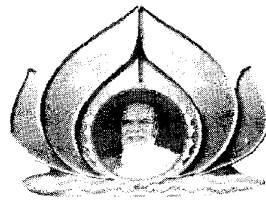
ज्ञान दर्पण है, यह मनुष्य को दर्प से दूर करता है । राग-द्वेष से जो परे करे, वही ज्ञान उत्तमोत्तम है । सम्यक्चरित्र से उदीयमान तथा सम्यक् ज्ञान से प्रकाशमान सूर्य से ही आत्मा का व लोक का कल्याण होता है । ज्ञान ही आत्मा को विषय पंक से दूर करता है. जो ज्ञान, चरित्र के रूप में परिवर्तित न हो, उसका कोई महत्त्व नहीं है ।

वीतराग विज्ञान, ने आध्यात्मिक विकास का व्यवस्थित क्रम प्रस्तुत किया है । जानों, श्रद्धा करो और जीवन के आचरण में लाओ । सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चरित्र को रत्नत्रय की संज्ञा दी है । रत्नत्रय का आलोक गहन निराशा के अंधेरे को चीर कर उजाला लाता है । आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए रत्नत्रय का आराधन अनिवार्य है ।

रत्नत्रय का समाधरान, वासना को कषायों एवं राग द्वेष से निवृत्ति देता है और यह निवृत्ति आध्यात्मिक दृष्टि से महामंगल की संरचना करती है । मनुष्य का मन दिव्य हो उठता है । वह पावन-मंदिर बन जाता है । अंतर-जागृति से जीवन का क्षण-क्षण आलोकित हो उठता है । उस स्थिति में मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है । जीवन के अज्ञानजन्य दुःखों से मुक्ति के लिए इस प्रशस्त पथ की यात्रा अत्यन्त आवश्यक है । संशय, विपर्यय से मुक्ति के लिए यह पथ प्रशस्त है, श्रेष्ठ है ।



२_ सतत जागृति : जीवन की सही समझ



11 — सतत जागृति : जीवन की सही समझ

जा गो तभी सवेरा । मनुष्य के जीवन में प्रारंभ से ही सर्व आदर्शों के अनुरूप जीवन को ढालने का उपक्रम बहुधा नहीं होता है । मनुष्य को अक्सर समझ आते-आते कभी-कभी काफी समय गुजर जाता है । विलम्ब से समझ आने पर उसके अनुरूप ढलने में कठिनाई आती है । उस समय जीवन चुनौतिपूर्ण हो जाता है । जो समय व्यर्थ गया वह लौट कर नहीं आता, परन्तु प्राप्त समय का सदुपयोग कर लिया जाए तो काफी कुछ सुधार हो जाता है. पवित्रता अंततः सारी मलिनता को शुद्ध कर देती है ।

आचारांग सूत्र का यह सुभाषित मननीय है -

**अणाभिक्रतं च वयं संपहाए,
खणं जाणाहि पंडिए ।**

हे आत्मविद् साधक ! जो बीत गया सो बीत गया । शेष रहे जीवन को लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख ! समय का मूल्य समझ ! पंडित वही है, जो क्षण-क्षण को समीचीन रूप से समझता है । जब भी यह जान ले कि वास्तविक जीवन का आनंद किस विधि में है तो संकल्प ग्रहण कर उसके अनुरूप जीवन जीना आरंभ कर दे । पारसमणि मिल जाने पर जैसे हर कोई उससे स्वर्ण की प्राप्ति अविलंब कर लेता है, उसी तरह

यथोचित अवसर का लाभ उठाना ही बुद्धिमानी है। मृत्यु कभी भी आ सकती है, अतः आंख मूंद कर बैठे रहने से कोई लाभ नहीं है। समय का तत्काल सदुपयोग कर लें।

समय के सदुपयोग का यह अर्थ नहीं है कि जल्दबाजी में कोई भी निर्णय ले लिया जाए अथवा ऐसी वैसी कोई भी क्रिया कर ली जाए। समझ को ताक पर नहीं रखा जा सकता। अवसर के अनुसार जो भी कदम उठाना है, उसमें त्वरितता हो, मगर विवेक भी रहे। सुअवसर प्राप्त होते ही पलायन न करें चुनौती को साहसपूर्वक स्वीकार करें। इस साहस के लिए शूरवीरता नहीं आत्मबल की आवश्यकता होती है। सत्य का जब भी उद्घाटन हो, उसे स्वीकार लें, अपना लें।

जीवन में समय का बड़ा महत्त्व है। सही समय पर जागना ही श्रेष्ठ है। जो यह मानता है कि उसके पास समय बहुत है वह कुछ भी नहीं कर पाता है और जो समय को मूल्यवान मानता है, वह थोड़े समय में ही बहुत कुछ कर जाता है।

कुछ यात्री साथ-साथ सफर कर रहे थे। उनमें से तीन यात्री एक ही शहर में पर्यटन के लिए जा रहे थे। उन तीनों में से एक यात्री ने प्रश्न किये पर समय के परिमाण के अनुसार तीनों को अलग-अलग बात कही।

पहले से पूछा - आप शहर में कितने दिन रहेंगे ?

उसने जवाब दिये - छह महीने।

पूछने वाले ने कहा - आप शहर का कुछ हिस्सा ही देख सकेंगे।

दूसरे से पूछा तो उसने अवधि बताई-तीन सप्ताह।

उसे कहा गया कि वह शहर का काफी हिस्सा देख सकेगा।

तीसरे से पूछा तो उसने अवधि बताई एक सप्ताह।

उसे बतलाया गया कि वह पूरा शहर देख सकेगा।

अन्य यात्री इस वार्तालाप से आश्चर्य चकित हो गये। पूछने पर उस व्यक्ति ने स्पष्ट किया कि जिसके पास बहुत समय होता है वह उतना ही अधिक समय

आराम में बिता देता है। जितना कम समय होगा, कार्य को सम्पन्न करने में उतनी ही तत्परता रहेगी।

जीवन को सदा ही सीमित मानना चाहिए इस सोच से आसक्ति कम होगी और आसक्ति जब होगी तो व्यक्ति पापों का परिग्रह की दासता स्वीकार नहीं करेगा। वह आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए सतत प्रयत्नशील रहेगा। सदा जागृति रखना ही जीवन की सही समझ है। तभी तो हम जीवन की अर्थवत्ता को पा सकेंगे। जीवन वास्तव में आस्था का अनुष्ठान है, बुरी से बुरी स्थिति से भी बचकर यदि जागरूकता रहे तो प्रयत्न करके शिखर तक पहुंच सकते हैं। केवल मन की तैयारी हो, संकल्प पूर्व बढ़ा जाए।

समय की महत्ता वही समझ सकता है, जिसका ध्येय ऊंचा हो, जो कृत संकल्प हो, समय की अल्पता का जिसे ज्ञान हो। वही व्यक्ति सतत सक्रिय होता है। जो इस भावना के विपरीत है उसका जीवन प्रमाद में, निद्रा में, अनावश्यक क्रिया में व्यतीत होता है। भगवान महावीर ने गौतम को सत्य ही कहा था - 'समयं गोयम ! मा पमायए।' - हे गौतम एक समय का भी प्रमाद मत करो। समय का लाभ उठाने का प्रयत्न हो तो लाभ मिलता है।

समय पर यदि सजगता न रखी जाए तो व्याहारिक क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र दोनों में ही व्यक्ति पिछड़ जाता है। समय के लिहाज से जिंदगी बहुत छोटी है। कहा जाता है कि जिंदगी सिर्फ चार दिन की होती है। इस छोटे से समय को लोग व्यर्थ बातों में ही बिता देते हैं। जब ध्यान आता है, तब तक समय गुजर गया होता है, और समय गुजर जाने पर पश्चात्ताप के अतिरिक्त रहता ही क्या है। चिराग बुझ जाने पर तेल डालना, चोर के भाग जाने पर सावधान होना, पानी बह जाने पर बांध बांधना ये सब उपक्रम व्यर्थ हैं।

सतत सक्रियता पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी प्रिय थी। वे कहा करते थे - "आराम हराम है।" उनकी इस भावना की प्रेरणा उन्हें राबर्ट फ्रास्ट की कविता के

एक अंश से मिली थी । वह कविता यों है -

*The woods are lovely dark and deep
But I have promises to keep
And miles to go before I sleep
And miles to go before I sleep*

यह वनराशि सुन्दर प्रगाढ और गहन है । इस सुन्दरता को निरखते रहने का तथा विश्राम करने का मन होता है किंतु मुझे अपने दिये गये वचनों का पालन करना है, और सोने से पहले मुझे मीलों तक जाना शेष है ।

विभ्रमों में नहीं रमने तथा जागरूक रहने का संकेत ये पंक्तिया देती हैं। आप भी सतत जागरूकता की प्रेरणा को ही अपने जीवन में स्थान दें । यदि कुछ अनचिन्ता हो गया है तो उसे भूल जाए और नये सिरे से फिर उठान की ओर अग्रसर हो जाए । दुर्भाग्य का चिन्तन न करें तो सौभाग्य और सुयोग निश्चय ही आपके चरण चूमेंगे । जो चूक गया, वह चूक गया, जो बढ़ गया, वह बढ़ गया । बढ़ने वाले करिश्मे पाते हैं । अपने को कम मत आंकिये । अनेक संभावनाएँ हर व्यक्ति में स्थित हैं । अपने आत्मविश्वास को विस्तार दीजिये, वे सब संभावना में यथार्थ में परिणत हो जाएंगी ।

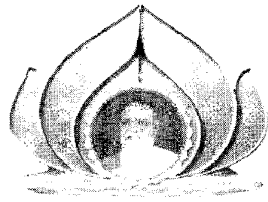
बात एक मात्र यही है, समय का पूर्ण सजगता के साथ उपयोग किया जाए । जो समय का सम्मान करता है, समय भी उसीका सम्मान करता है । समय की जो उपेक्षा करता है, समय भी उसकी उपेक्षा करता है । समय का महत्त्व समझ कर, श्रेष्ठ उपक्रमों में सक्रियता रखना ही सबसे उत्तम स्थिति है । कहा भी है -

**रात दिवस जो बीत रहे हैं, पुनः लौट नहीं आने को ।
नित्य पुरुषार्थ जगाना होगा, नारायण बन जाने को ॥**





१२_ प्रश्नान्ति का आधार : धर्म



12 — प्रशान्ति का आधार : धर्म

बहुत कुछ अनायास ही पाया जाता है, परन्तु धर्म और अध्यात्म का अर्जन करना होता है। चाहे तो इसी जन्म में या पूर्व जन्म से भी यह अर्जन संभव है। जो अर्जित होता है उसके लिए सदा ही सजगता रखी जाती है। यह सजगता ही उसकी गंभीरता सिद्ध करती है। श्रम से जो साधक दुष्कर आराधना करता है तथा दुःसह परिषहो को समभाव से सहता है वह धर्म को पाता है। अहिंसा, संयम और तप धर्म है। सेवा भी धर्म के अंतर्गत है। अधिक से अधिक समय धर्म आराधना में लगाने से जीवन प्रकाश से भर जाता है। अध्यात्म से यह ज्योति पाई जा सकती है।

धर्म का कोई भी सतत विरोधी नहीं होता है, कहीं न कहीं वह भी अध्यात्म से जुड़ा रहता है। जो धर्म से जुड़ा है वह इसे ही जीवन का प्रमुख आचरण मानता है। वह उसे एक विशिष्ट आत्म विद्या भी मानता है।

धर्म, मनुष्य की अंतरानुभूति है। मनुष्य के अंतर से जो प्रकट होता है, वह धर्म का ही स्वरूप होता है। हर मनुष्य को अंतरंग का हर क्षण में आभास होता है। यह बात ही सर्व रूपेण यथार्थ है। पर झुठलाने भी लगे हैं कई लोग ! वे धर्म-विमुख कहे जा सकते हैं। जैसे अग्नि को ठीक मात्रा में इंधन व ऑक्सीजन की उपलब्धि

हो जाए तो अग्नि का प्रज्वलन हो जाता है, अग्नि का प्रवर्धन होता है, वह प्रकाश फैलाती है, ताप देती है, अंधकार को हटाती है, शीत को परे कर देती है, उसी प्रकार जब धर्म को धार्मिक परधर्म साधन मिलते हैं तो धर्म की तेजस्विता में और भी प्रखरता आ जाती है ।

आध्यात्मिक उपलब्धियों का शक्तिपात भी होता है । अर्थात् वे एक उच्चस्थ स्थापित माध्यम से दूसरे में भी संक्रामित भी होता है । जैसे कि गुरु रामकृष्ण परमहंस ने शिष्य नरेन्द्र को शक्तिपात के द्वारा आत्मा की गहन अनुभूतियों से जोड़ा था और ये आगे चलकर स्वामी विवेकानंद के नाम से विश्व विख्यात हुए । अध्यात्म, धर्म, आत्म-पवित्रता से ही जीवन की शुद्धि होती है । अध्यात्म की भूमिका पर जिससे भी सम्पर्क होगा, वह आनंद का अपरिमेय देता है । वैसा धर्म एक ज्योतिर्मय अनुभव होता है । धर्म की तलाश जो पूरे मनोयोग से करता है, वह उसे अवश्य पाता है । जो धर्म-जीवन से जोड़ता है, उसके लिए धर्म अतीत है, वर्तमान है और भविष्य भी ।

धर्म वह है जो अधर्म नहीं है । दो बातें है-धर्म है और अधर्म नहीं है । है और नहीं है इन दोनों छोरों के बीच स्थित है एक तथ्य । है, नहीं है, दीपती-बुझती रोशनी की तरह कुछ हमारे भीतर झप-झपाता है । होना सार्थकता है, नहीं होना एक शून्य है । शाश्वत और अशाश्वत की सीमा रेखा खींची जाए तो धर्म शाश्वत के पाले में होगा । जो शाश्वत है, उसकी प्रासंगिकता महत्त्वपूर्ण है । धर्म सूर्य की अनुपम सीमा है । धर्म मन का अप्रतिम संकल्प है । ऐसे मन से ही आध्यात्मिक मनीषा संपन्न होगी ।

धर्म ही एक ऐसा साधन है जो दुःखी को सुखी बनाता है । धर्म अनेकांतमूलक है । धर्म का प्रदर्शन तो कई लोग करते हैं पर असल में वे सभी धार्मिक हो, यह कतई जरूरी नहीं है । एक प्रसंग मेरी स्मृति में उभर रहा है । रूस के झार पीटर का प्रसंग है । उसमें पर्याप्त उदारता थी और धर्म के प्रति निष्ठावान भी था वह । वह धार्मिक-वृत्ति के लोगों का खूब सम्मान करता था । उसने अपने धन से एक विशाल गिरजाघर बनवाया था । लोगों ने उस विशाल गिरजाघर की बहुत सराहना की । वह प्रति रविवार

गिरजाघर जाता झार को खुशी होती थी कि उस गिरजाघर में हर रविवार को भीड़ उमड़ पड़ती थी ।

एक दिन उसके कहा - फादर ! हमारे देश की जनता कितनी धर्मात्मा है । ईश्वर भक्ति के लिए उमड़ पड़ती है ।

पादरी ने कहा - अनेक जन आते हैं, मगर उनमें ईश्वर भक्त कितने हैं, यह विचारणीय है ।

पीटर ने आश्चर्य से पूछा - मैं आपके इस कथन का मतलब नहीं समझा ।

पादरी ने कहा - इस बात का रहस्य जानना है तो इस बार आप यह घोषणा करवा दे कि अगले रविवार आप नहीं आएंगे ।

केवल कहना है, आना तो आपको है ही । “पर मैं आ रहा हूँ ।”

पीटर ठीक से समझ नहीं सका पर पादरी के कहने पर घोषणा करवा दी गई । अगले रविवार जब वह आया तो देखा कि वहाँ केवल दस-ग्यारह व्यक्ति ही है । पादरी के चेहरे पर मुस्कराहट थी । पीटर महान समझ गया कि वे व्यक्ति धर्म के प्रति लगन के कारण नहीं, अपितु पीटर की नजरों में आने के लिए ही आते थे । उन्हें भला ईश्वर से क्या लेना-देना । लोगों की इस वृत्ति पर पीटर को बड़ी वितृष्णा हुई । उसने सोचा, काश मैंने गिरजा घर निर्माण करने के बदले लोगों में धर्म की वृत्ति का रोपण किया होता ।

इस तरह हम देखते हैं कि धर्म के प्रति रुझान रखना कई निमित्तों से होता है, पर वास्तव में धर्म के प्रति श्रद्धावान होना कुछ लोगों को ही रास आता है । जो धर्म से जुड़ जाते हैं, वे अपनी रुझान में वृत्ति में धर्म को प्रतिस्थापित कर लेते हैं, उनके प्रत्येक व्यवहार में धर्म ही धर्म प्रकट होता है । वे धर्म-संदर्भ में सहिष्णु होते हैं । वास्तव में वे ही अनेकांतवादी होते हैं । ऐसे ही धर्म से परमार्थ होता है । जो पराई पीर को जानता है, वही धर्म के सार को जानता है । जो धर्म का सार जानता है वह प्रशस्ति से भरे पथ का यात्री होता है । वही धर्म की पूर्णता पा सकता है ।

आध्यात्मिक साधना के भव्य भवन में प्रवेश का द्वार सम्यकता है। आत्मा में सम्यक्त्व उदय होता है तो कई प्रकार के सात्त्विकता से परिपूर्ण सद्भाव की उत्पत्ति हो जाती है। मोहनीय कर्म के प्रभाव से धर्म जैसा तत्त्व भी मिथ्या दृष्टि को रूचता नहीं है। मोहनीय कर्म के शिथिल होते ही जीव की धर्म में रुचि उत्पन्न हो जाती है। धर्म के और साधना के क्षेत्र में सम्यक् ही आदि चरण है, उसके बिना सब शून्य है। धर्म ही यथार्थ में सम्पोषित है सम्यक्त्व से। सम्यक्त्व के बिना धर्म टिकता नहीं है। धर्म का मूल है सम्यक्दर्शन। धर्म वह है जो प्रेरणा को अवसर दे।

जो धर्म से जुड़ता है, वह निश्चय ही जीवन को संवार देता है। धर्म अवश्य ही उत्स का कारण हो सकता है। इसे मैं इस प्रकार व्यक्त करना चाहता हूँ -

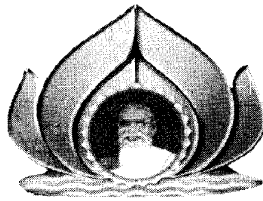
**धर्म को जिसने पाया, जीवन उसने दीपाया
धर्म से विमुख हुआ जो उसका हर पल मुरझाया
धर्म को जिसने उत्कृष्टता प्रदान की जीवन में -
धर्म में ही हर प्रश्न का समाधान है समाया।**

धर्म का अवलम्ब निश्चय रूप से स्थिरता, संतुलन और दृढता का कारणभूत है। धर्म मार्ग से पतित होने के बाद पुनः धर्म मार्ग पर आरूढ़ होना स्थितीकरण है। धर्म कथादि के द्वारा धर्म को ख्याति प्रदान करना, उसे विस्तार देना धर्म प्रभावना है। प्रभावना का मतलब है, इस भांति जियो कि तुम्हारे जीने से धर्म की प्रभावना हो इस ढंग से उठो-बैठो कि तुम्हारे उठने-बैठने से धर्म बढ़े, धर्म के दो रूप है तत्त्व-ज्ञान और नैतिक आचार। धर्म का भूषण वैराग्य है वैभव नहीं। धर्म से ही मनुष्य मन को दृढता मिलती है। धर्म होगा, शोक सभी को दूर करने वाला है। धर्म ही के द्वारा प्रशान्ति की अभिप्राप्ति होती है।





ॐ — कामनामुक्ति का उपाय : साक्षीभाव



13 — कामनामुक्ति का उपाय : साक्षीभाव

का मनाएं अनंत है और अनंत का कोई छोर नहीं। वस्तुतः कामना की पूर्ति से ही नई कामना का जन्म होता है। आध्यात्मिक उत्कर्ष में बाधक है कामनाएं। कामनाओं पर जय किये बिना न आध्यात्मिक अभ्युदय संभव है और न ही दुःखों से मुक्ति। भगवान महावीर ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रदान किया -

“कामे कमाहि कामियं खु दुक्खं !”

दुःखों से यदि अपने आपको मुक्त करना चाहते हो तो कामनाओं पर विजय करो। यह फिनिक्स पक्षी के समान है जो जलकर राख हो जाने पर पुनःराख से जीवित होकर उड़ान भरने लगता है। आकांक्षाओं के आकाश में उड़ने वाला मन का पंछी पूरे आकाश को ताप लेना चाहता है परन्तु यह संभव नहीं हो पाता। आकाश अनंत है उसी तरह इच्छाएं आकांक्षाएँ भी अनंत है। उड़-उड़कर जीवन का अंत हो जाता है, पर इन पर जय किए बिना आकांक्षाओं का अंत नहीं होता, ऐसी स्थिति में दुःखों का एक अंतहीन प्रवाह, स्वयं के ही अविवेक से व्यक्ति स्वयं के जीवन में पुष्ट कर बैठता है।

मुक्ति के कामी व्यक्ति को कामनाओं की हर सीमा लांघना जरूरी है। कामनाओं को निरंतर अध्यात्म चिंतन निरत रह कर क्रमशः त्याग देने

पर ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। मुक्ति त्याग का चरम है। त्याग का यहां अर्थ है - अखण्ड आनंद की अनुप्राप्ति। यह आनंद पूर्ण रिक्तता की स्थिति में संभव है। उस हालत में रिक्तता की अनुभूति पीड़ा नहीं देती है। आचारांग में कहा है -

“विमुक्ता हुं तो जणा, जे जणा पारगामिणो ।”

जो साधक कामनाओं को पार कर गए हैं, वस्तुतः वे ही मुक्त पुरुष है। कामना विहीनता से ही मनुष्य को आत्मा से, अध्यात्म से जुड़ने की एकाग्रता मिलती है। मुक्ति का पथ भी आत्मा के, अध्यात्म के संधान से ही प्रशस्त होता है। पूर्ण प्रशस्ति के लिए पूर्ण संतुलन जरूरी है। संतुलन की प्राप्ति होती है आध्यात्मिक निष्ठा से। संतुलन की प्राप्ति होती है एकाग्रता से। आंतरिक भटकाव, अध्यात्म-साधना में बाधक है। भटकाव से विमुक्ति दृढ़ इच्छा-शक्ति से, आत्मबल से संभव है। कामनाओं पर तर्क के लिए विचारों की तटस्थता एवं स्वस्थता को अपनाईये। यह स्वस्थता एक प्रकार से व्यक्तित्व के परिवर्तन को घटित करती है। कामना किसी भी तरह की नहीं हो। लोक की अथवा परलोक की, कामना कैसी भी हो, वह बाधक है। साधक सहज रूप से अपने आपसे जुड़कर जीवन को साधना के स्तर पर जीने के प्रयास करें। यह सहजता, अध्यात्म से संलग्नता पर सधती है। इस आध्यात्मिक संलग्नता से जीवन में वह स्थिति आ जाती है कि उसके बाद फिर कुछ भी समझने की, जानने की या प्राप्त करने की जरूरत ही नहीं रहती है। साधना की सततता से यह संभव हो जाता है। श्रेष्ठ की इस यात्रा से जीवन का ऊर्ध्वारोहण सुनिश्चित रूप से होता है। कहा भी है -

**विणावि लोगगं निक्खम्भ,
एस अकम्म जाणाति पासति ।**

जिस साधक ने बिना किसी लोक-परलोक की कामना के निष्क्रमण किया है, प्रब्रज्या ग्रहण की है, वह अकर्म-अर्थात् बन्धन मुक्त होकर ज्ञाता-द्रष्टा हो जाता है। समग्र को जानकर भी यह वैचारिक परिग्रह नहीं है, वरन् आत्मा का अनुग्रह है।

कामनामुक्ति का उपाय : साक्षीभाव - 101

आत्मस्वरूप में रमण करना ही साधक का लक्ष्य होना चाहिए। आत्म-स्वरूप में रमण ही भव भ्रमण पर विराम लगाता है।

आज सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि हम आत्मा के वश में न होकर कामनाओं के वश में हो जाते हैं। यह ऐसी वशमयता है जो मनुष्य को परवश बना देती है। यह अवशता, यह परवशता कदम-कदम पर तोड़ती है, पूरा का पूरा जीवन लड़खड़ा जाता है। आप अपने ही वश में, नियंत्रण में रहना ही, ज्यादा लाभप्रद होता है। एक बार मैंने लिखा था -

**वश में रहे आत्मा के, सार्थक है वह जीवन
कामना के वश में जो जाता नहीं संजीवन
भटकाव का अंत पर के परित्याग से होगा-
आत्मा में रमे जो आनंद पाता यावज्जीवन !**

यह स्पष्ट है कि कामनाओं में आकर्षण रहता है, उसीमें मनुष्य इसका अनुभव करता है, पर यह रस नहीं है अपितु घातक विष है। ऐसा विष जो न केवल एक जन्म, अपितु जन्म-जन्म तक अपने दुष्परिणाम प्रस्तुत करता रहता है। यह कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि कामनाओं में भटकाव ही अधिक होता है। उनमें उलझाव है, उद्वेलन है, शांति नहीं अपितु स्पष्टता अशान्ति है। इनके अल्पीकरण अथवा अंत के बिना शांति और सुख संभव नहीं है। कहा है -

**चाह गई, चिन्ता मिटी, मनवा बेपरवाह ।
जिसको कछु न चाहिए, वो ही शहनशाह ॥**

यों प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी चाह और कामना से जुड़ा है, वह उससे तुरन्त चाहकर भी अलग नहीं हो पाता, पर इतना तो किया ही जा सकता है और करना भी चाहिए कि कामना को ऐसा स्वरूप दिया जाए कि वह उसे पीड़ा न दें, भटकाव न दे। कामना को ऐसी उज्ज्वलता दे कि उसमें स्वार्थ की बू न आए, उसमें आसक्ति का परिदर्शन न हो। कामनाओं कि विशुद्धि का अभिप्राय उस पर पड़े मैल को हटा दे, तब

102 - अध्यात्म के झरोखे से

हम जो यात्रा शुरू करेंगे, उसका स्तर अवश्य होगा। कामना को यदि ऐसा उत्तम आयाम हम दे सकें तो इससे बढ़कर श्रेष्ठ कार्य कोई नहीं हो सकता। कामना वही उत्तम है जो हमें दीन न बनाए। वही कामना उत्तम है जो हमें शाह बनाए, शाहों का शाह बनाए अर्थात् हमें अपनी आत्मा की अतल गहराइयों में ले जाए।

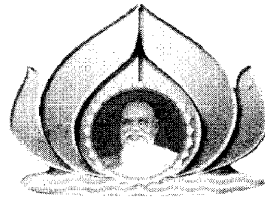
चाह, आकांक्षा इच्छा ये सभी लगभग कामना के पर्यायवाची हैं। कामनाएं पंख लगाकर उड़ती हैं। उड़ान ऊंची होती है। धरातल से ऊपर कामनाओं में कल्पना तत्त्व अधिक होता है, अतः अपूर्ण रहती है। पूरी नहीं हो पाती। कामनाओं में लिस लोग अंधेरी घाटियों में भटकते रहते हैं। भगवान महावीर ने साधक को साक्षीभाव में आने के लिए मार्गदर्शन दिया। साक्षीभाव में पहुंचकर ही साधक को स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है। जो भी है उससे लिस न रहना - यही है साक्षीभाव. साक्षीभाव में राग और द्वेष का अभाव है। विचारों से, कामनाओं से मुक्ति का उपाय होता है साक्षीभाव। साक्षीभाव है निर्विचार समाधि। निर्विचार चेतना से ही शून्य का उद्घाटन होगा। तभी अपने से अपना, आत्मा से आत्मा का मिलन होगा।

आत्मा स्वभाव से दीप्त सूर्य के समान दिव्य है। वह चन्द्रमा के समान शांत रूप है। वह श्वेत पुरुष के समान स्वच्छ व सुन्दर है। जितनी भी कामनाएं, विकृतियां दिखलाई देती हैं यह आत्म स्वभाव नहीं है, विभाव है। जब-जब भी अपने आपसे दूरियाँ स्थापित होती हैं तो विकृतियाँ अपना साम्राज्य स्थापित करने लगती हैं। इन्द्रियां जबरन ही आत्मा को विषयों की रति में खींचकर ले जाती हैं। जो इन्द्रियों को, मन को वैकारिक प्रवृत्तियों से पृथक कर दें, वही प्रवृत्ति सम्यक् होती है, वही अध्यात्म है। इस अध्यात्म के हर कार्य में, हर उपक्रम में आत्मा की ध्वनि होती है।





14_ अध्यात्म : अभय का द्वार



14 — अध्यात्म : अभय का द्वार

जी वन को आध्यत्मिक तरीके से जीनें से किसी प्रकार का भय पैदा नहीं होता, पर जब जीवन में अध्यात्म की उपेक्षा होने लगती है तो उसमें असंगतियों का प्रवेश होने लगता है और कई प्रकार के भय भी उत्पन्न हो जाते हैं। तब जीवन में संशय भी उभरता है, तब जीवन के अर्थ में कई अनर्थ भी आ जाते हैं। मनुष्य की इसी भय भावना का लाभ कई लोग, कई तरीकों से लेते हैं। धर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार से पाप, पुण्य की व्याख्या कर मनुष्य के अधिकांश व्यवहार को पाप की श्रेणी में रखकर उसे भय से ग्रस्त कर अनेक कर्मकाण्ड सुझाकर अपना उल्लू सीधा करने वालों की एक बड़ी जमात है।

वैसे यह एक सर्वथा सत्य है कि अध्यात्म और धर्म से कटकर, प्रमादों के घेरे में आ कर ही मनुष्य भय की सर्जना करता है। आगम सूत्र है -

**सर्व्व ओ पमत्तस्स भयं,
सर्व्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं !**

प्रमादी को सब प्रकार से भय, अप्रमादी को किसी प्रकार का भय नहीं। प्रमाद को यदि व्यक्ति सीमित रखता है तो कोई भय अथवा हलचल नहीं होती। जितनी भी हिंसाएं, चोरियां आदि हो रही हैं उसके पीछे व्यक्ति की अध्यात्म

और धर्म से शून्य, प्रमाद की वृत्ति ही है। परिग्रह के प्रति लगाव या क्रोध आदि कषायों की उपज ही अनेक प्रकार की विसंगतियों को जन्म देती है और उनके कारण ही विविध प्रकार के भय अस्तित्व में आते हैं। केवल जुझारु वृत्ति से ही भय को टाला जा सकता है। भय इसलिए भी है कि किसी भी आतंक के अवसर पर आजकल संवेदना नहीं मिलती। संवेदना ही नहीं मिलती तो सहयोग की बात तो उसके बाद की बात है। बड़े से बड़े हादिस को देखकर भी मनुष्य अनदेखा कर जाता है। या उस समय अपनी ओर से कोई पहल नहीं करता। इस प्रकार की अनुरक्षा से भय स्वाभाविक है। वह महसूस करने लगता है कि असंबद्ध स्थितियों में ही उसे रमना है, कोई भी वक्त पर उसका सहारा बन कर नहीं आयेगा, मेरा अपना पात्र यदि कोई बनेगा तो वह धर्म अथवा अध्यात्म ही साबित होगा। भय एक प्रकार से मृत्यु है। भय पर विजय द्वारा ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है। एक बार दो व्यक्तियों को एक साथ ही एक डाक्टर ने टी.बी. का रोगी घोषित कर दिया। उस समय टी.बी. असाध्य रोगों में गिना जाने वाला रोग था। उसे राज रोग कहते थे। दोनों रोगियों के लिए यह घोषणा एक समान चिंता का विषय थी। पर वे दोनों रोगी अलग-अलग भावना वाले रोगी थे। एक का मन दुर्बल था, एक के मन में जुझारु वृत्ति का वास था।

जो दुर्बल मन का व्यक्ति था, डाक्टर का निर्णय सुनते ही उसका मन बैठ गया। वह जीवन से निराश हो गया। उसे अपने सामने मौत खड़ी नजर आई। दिन व दिन वह महसूस करता कि आज उसका स्वास्थ्य कल की बनिस्बत क्षीण हो गया है। दवा लेता, पथ्य भी पालन करता, मगर यह भी भावना रखता कि वह क्षण-क्षण क्षीण होता जा रहा है। वह अशक्ति और अस्वस्थता के आभास से उभर नहीं पाया। उसकी दुर्बल भावना के कारण उसने शय्या पकड़ ली और वह शय्या अंततः उसके लिए मृत्यु शय्या सिद्ध हुई। वह देहत्याग कर मृत्यु की गोद में सो गया। दूसरे रोगी की भावना में वृद्धता थी। उसने मृत्यु की संभावना से अपनी दृष्टि हटा ली। उसने जीवन की संभावना पर ही अपनी दृष्टि रखी। वह सदा के लिए यही विचार करता कि सही दवा और पथ्य से उसमें जीवन के लौट आने की पूरी संभावना है। जीवन के प्रति दृढ

निष्ठा से उसमें पर्याप्त आत्म-बल की स्थापना हुई। प्रतिदिन वह एक ही चिंतन करता कि वह दिन-प्रतिदिन स्वस्थ हो रहा है। परिणाम यह हुआ कि वह पूर्ण स्वस्थता पा गया। वह पूर्ववत् अपने कार्य में उत्साहपूर्वक लग गया। इस तरह आपने हमने देखा कि एक ही पीड़ा से पीड़ित दो व्यक्तियों पर उनकी वृत्ति के अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव पड़े। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि भय की उत्पत्ति और अभिवृद्धि में व्यक्ति की, उसकी अपनी आंतरिकता काम करती है। मनुष्य की अपने आपके प्रति आस्था ही उसे सभी प्रकार के प्रमाद और उनसे संदर्भित भय से मुक्त रखती है। अप्रमाद एक तरह से अध्यात्म परायण है। इससे भीतर में एक विशिष्ट शक्ति का संचार होता है। इस आंतरिक शक्ति से रहते हुए वह स्वयं अपनी मृत्यु का भी स्वागत सहर्ष करता है। हमारे यहाँ एक दोहा प्रसिद्ध है -

**जिस मरने से जग डरे, मुझ मन है आनंद ।
जद मरस्या, जद भेंटस्या, पूरण परमानंद ॥**

इतनी बड़ी निर्भयता एवं अविचलता अध्यात्मनिष्ठा के बिना असंभव है। प्रश्रव्याकरण सूत्र में भगवान महावीर का कथन है -

ण भाईयव्वं ! भीयं खु भया अईन्ति लहयं ।

अर्थात् मत डरो ! डरे हुए के आस-पास भय शीघ्र मंडारने लगते हैं। धार्मिक आध्यात्मिक जीवन जीने वाला हमेशा निर्भय होता है, क्योंकि उसके जीवन में कोई कौटिल्य, दुराव छिपाव विकृति आदि नहीं होती। भयग्रस्त व्यक्ति जीवन पथ पर गतिशील नहीं हो पाता, उसका मन विविध आशंकाओं से कंपित होता रहता है।

साधु अथवा श्रावक दोनों ही भय से परे होते हैं, क्योंकि दोनों ही अध्यात्म जगत के साधक हैं। अध्यात्म से अभय की अभिवृद्धि होती है। अभय जिसके पास है वह निर्भीक सिंह की भांति अपने गंतव्य पर बचता है, न उसे देवता ही उसे विचलित कर सकते हैं और न ही रक्त पीनेवाले हिंस्र जन्तु। यह याद रखना चाहिए कि अध्यात्म की मनोभूमिका पर ही अभय के, साधना के सद्गुणों के पुष्प खिलते हैं। अध्यात्म-

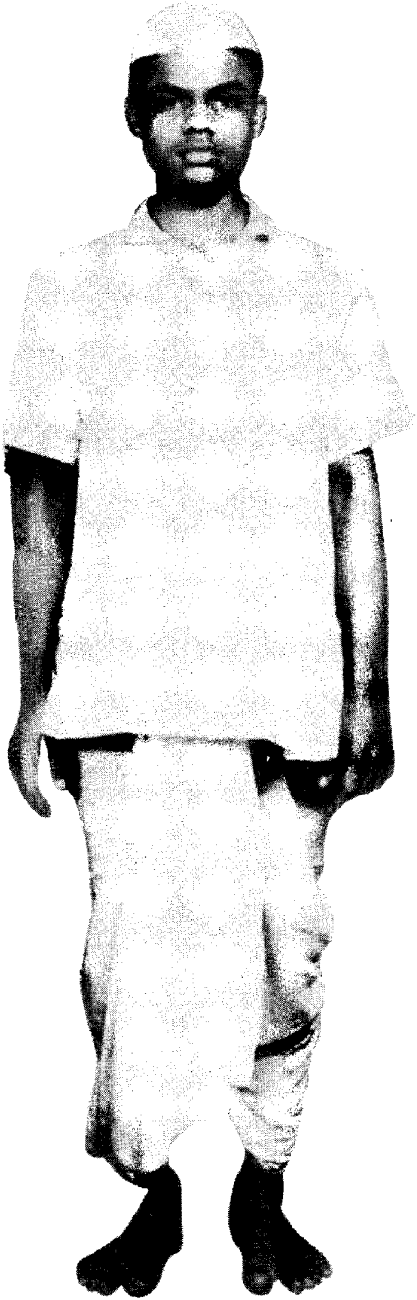
परायणता के कारण उसकी साधना की ज्योति, निष्कंप दीपक की लौ की भांति पल-पल ऊर्ध्वगामी होती है ।

इसीलिए कहा जाता है कि जीवन में सबसे बड़ा दान अभयदान है । जब तक पूर्ण सुरक्षित होने की आश्वस्ति नहीं होती तब तक जीवन का सच्चा आनंद नहीं मिलता । भगवान महावीर निर्भयता के प्रतीक थे । जहां भय हो, वहां साधक अपनी साधना नहीं कर पाता । भय से बचने के लिए ही भगवान महावीर ने कहा - समय मात्र का भी प्रमाद मत करो । एक क्षण भी आलस्य में गंवा दिया तो वह क्षण पुनः नहीं आनेवाला है । कृत कर्म कभी निष्फल नहीं जाता । अन्यो को कष्ट पहुंचाकर व्यक्ति अपने लिए अशुभ कर्मों का संचय करता है । दुराग्रह से द्वेष फैलता है । द्वेष एक ऐसी वृत्ति है जिसे आतंक की संरचना होती है । आतंक की स्थिति में भय की प्रमुखता हो जाती है ।

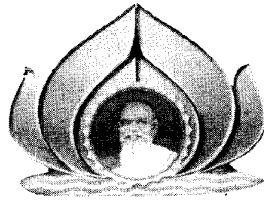
भय से मुक्त होना है तो अभय की स्थिति को लाना होगा । अभय के लिए उन सभी उपादानों से बचना होगा जो भय को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बल देते हैं । भयातुर होकर जीवन की सहजता संभव नहीं है । जहां सहजता नहीं वहां जीवन पूर्णतः अभिशाप बन जाता है । जीवन को सम्पूर्णता में अर्थात् सत्य रूप में स्वीकारना ही सुरक्षा की आश्वस्ति है । अनावश्यकता से ही भय और आतंक की भावना गहरी होती है ।

अनावश्यक तनाव और भय का प्रमुख कारण अध्यात्म की उपेक्षा एवं प्रमाद से आंतरिक लगाव है । अध्यात्म, अभय का, शांति का द्वार है । अध्यात्म से जुड़ाव और प्रमाद से जितना मुड़ाव होगा उतना ही सुखों का विस्तार होगा ।





५२ पर्यावरण का अर्थ : जीवसृष्टि एवं वातावरण की पारस्परिकता



15 — पर्यावरण का अर्थ : जीवसृष्टि एवं वातावरण की पारस्परिकता

पर्यावरण के प्रति जैन परम्परा अति सजग रही है। कहीं भी प्रकृति के साथ अतिचार न हो, अनाचार न हो इसके लिए स्पष्ट सूत्र जैन परम्परा में उपलब्ध है। न केवल व्यवहार के स्तर पर वरन् भावना के स्तर पर भी इसमें जो संकेत व वर्जनाएँ दी गई हैं वे पर्यावरण की शुद्धता पर प्रकाश डालती हैं, प्रेरणा देती हैं। वातावरण में व्याप्त ताप व आर्द्रता का समुचित परीक्षण जैन दर्शन के चिन्तकों ने किया है उनके अनुरूप अवधारणाएँ दी हैं। जैन विभूतियों ने जो भी उद्बोध दिये हैं वे घूम फिरकर पर्यावरण की उत्तमता पर जाकर स्थिर हो जाते हैं विकास ग्रहण करते हैं।

पर्यावरण का अर्थ है - जीव सृष्टि एवं वातावरण की पारस्परिकता। मनुष्य पक्षी, जीवजन्तु, वनस्पति, सूक्ष्म जीवन गिरि कन्दरा पर्वत नदी झरने वन पुष्प वृक्ष वनस्पति ही नहीं समग्र ब्रह्माण्ड तारक वृन्द सूर्य मण्डल इन सभी की पारस्परिकता ही पर्यावरण को सन्तुलित रखती है। जैन दर्शन का मुख्य हार्द 'जियो और जीने दो' कथन में निहित है, जैन चिन्तकों के अनुसार पर्यावरण संबंधी खतरे अपने ही कर्मों के अधीन है। जैन जैविकी जिन गहराइयों तक गई है वह आधुनिकतम विद्वान के लिए भी संभव नहीं लगती। छह द्रव्य-जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल पर गहराई से मनन इस परम्परा की अपूर्व देन है।

प्रबुद्ध जैन इसीलिए तो आज की स्थिति को देखकर कहते हैं कि आज की सारी समस्याओं का निदान जैन दर्शन के पास है। जैन विचार प्रणाली को व्यवहार में लाकर ही सारी समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है। भले ही वह मौसम की प्रतिकूलता हो या मानव के व्यवहारों में प्रविष्ट हुई विकृति। मनुष्य के जीवन में जितने भी सुख-दुःख उतार चढ़ाव आते हैं वे कृत कर्मों के फल हैं, शुभकर्मों के फल शुभ, अशुभ कर्मों के फल अशुभ होते हैं। वे लोग धन्य हैं जो उत्तम व्यवहारों का जीवन में पालन करते हैं।

जैन दर्शन में वनस्पति, आहार जल सेवन, जीवनयापन हर क्षेत्र में शुद्धि की नियोजना है। ये चार शुद्धि हैं — द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि, भाव शुद्धि। इनके परिपालन से पर्यावरण को बल मिलता है। जैन शास्त्रों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति को जीव बताया गया है। इनके प्रति अविचार से वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण ताप प्रदूषण की स्थिति आ जाती है। जैन संतों आचार्यों, तीर्थंकरों द्वारा अन्तर्जगत और बहिर्जगत की शुद्धि का उद्बोध दिया गया है। जैन धर्म का मुख्य उद्घोष अहिंसा है। शेष व्रत अर्थात् अपरिग्रह, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सत्य भी इसी में निहित हो जाते हैं। मनुष्य अपने विषय सुख के लिए प्रकृति का शोषण करता है, दोहन करता है। इसीके चलते वह जीवात्माओं के प्रति क्रूर हो जाता है, निर्मम हो जाता है।

मनुष्य की क्रूरता या निर्ममता उसे ओरो के प्रति हिंसक होने के लिए उकसाती है। उसकी करुणा समाप्त हो जाती है। वह धर्म के कथनों से व्यवहारों से विमुख हो जाता है। उसकी आत्मा में अनेक प्रकार के प्रभावों का प्रवेश हो जाता है। आत्मा की विशुद्धता पर अवरोध आ जाता है। बड़ी सहजता से वह मद्य, मांस, असत्य, चौर्य, कुशील का सेवन करने लगता है। अन्यों की धन-हानि, स्त्री-हानि आदि की कामना में सुख का आभास होने लगता है। विजय का विष मनुष्य को ललचाता रहता है। मोक्ष की कामना से वह परे हो जाता है। मदिरा का सेवन उसे और अधिक भटकाता है।

मनुष्य की क्रूरता कुचेष्टा है। परिवेश को भयाक्रांत, अशांत-हिंसक बनाती है। विकार को दूर करना बड़ा ही कठिन है। प्रवृत्ति का यही स्वरूप पर्यावरण अशुद्ध

पर्यावरण का अर्थ : जीवसृष्टि एवं वातावरण की पारस्परिकता – 113

करता है, पशु के प्रति मनुष्य ज्यादा ही क्रूर है। पशुधन को नष्ट करने का हमारे यहाँ क्रम चला है। निर्यात के लिए पशु हिंसा खूब चली है। पशुधन को और देश नष्ट नहीं करते यह तथ्य है, तथ्य के बावजूद हम समझते नहीं हैं। अपने देश का आर्थिक आधार वे तोड़ना नहीं चाहते हैं। वहाँ का पर्यावरण इसीलिए संतुलित है। पशुओं से खाद, गोबर गैस उपलब्ध होता है। पशु की प्राकृतिक मृत्यु ही सहज है। मृत्यु के बाद चमड़ा सींग उपयोग में आता है। अहिंसा हमारा धर्म है। भारत में अहिंसा के उत्कृष्ट प्रयोग हुए हैं। आज यही हिंसा का ताण्डव मचा है। पशुओं की हिंसा मानव हिंसा में संकुचित हुई है। जैनत्व पर नित्य आघात हो रहा है। अहिंसा का अवशोषण भी यही हो रहा है। यही पर्यावरण चिन्ता का सबक है। हिंसा के विरोध में संघर्ष समितियाँ बनी है। पर अभी भी प्रयत्न अधूरे ही हैं। हिंसा का अनर्थक विरोध जैनों का दायित्व है। यह दायित्व इन दिनों ज्यादा बढ़ा है। जैनत्व का भी यही उद्घोष है। पशु हमारे धन है। पशुओं की रक्षा का सुगम मार्ग शाकाहार है। शाकाहार पर्यावरण का हेतु है। आहार का संस्कार हमारी उत्कृष्ट भावना है। जम्बूद्वीप पत्रति सूत्र में उल्लेख है - संवत्सरी के दिन मांसाहारी मानवों ने पृथ्वी पर उगे हुए फलों का सेवन कर भूख मिटाने का शुभ संकल्प किया था। उन्होंने मांसाहार को त्याग दिया था और मांसाहारी के निकट भी न बैठने का व्रत लिया था। ऐसे मंगलकारी अहिंसा दिवस को सदासदा के लिए स्मरणीय बनाने हेतु भी इस पर्व की आराधना इन्हीं दिनों की जाती है।

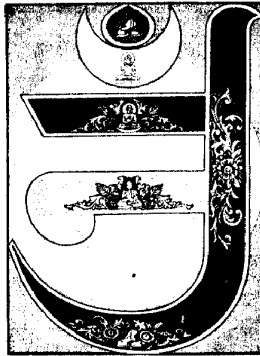
जैन आख्यानों में समृद्धि का प्रतीक पशुधन माना जाता रहा है। यह हकीकत है कि हल से की जानेवाली खेती सबसे अधिक वैज्ञानिक तथा सस्ती है। तेल पेरने की घानी और पानी के लिए रहट अतिरिक्त हिंसा से बचाता है। मशीनी उद्योगों से पृथ्वी पर विनाश बढ़ा है। धरती जल वायु का प्रदूषण इन्हींसे हुआ है। इसके विपरीत गोमूत्र कीट नाशक रोगाणु नाशक है। गोबर भी रोगाणु नाशक है। परमाणु विकिरण रोकता है।

गति की दृष्टि से पर्यावरण पर आघात किये गये। पर इस गति ने ही बड़ी दुर्गति की है। यह गति भौतिक-क्षेत्र की है। इसे आत्मा को शून्य कर पाया गया है।

आत्मा जो जैन अवधारणा के अनुसार परमात्मा पद तक पहुंचाने में सक्षम है। भौतिक आवश्यकताओं की प्रतिपूर्ति के लिए ही तो जंगल नष्ट हो रहे हैं, परिणाम स्वरूप पर्यावरण सन्तुलन बिगड़ रहा है। यह सुखद है कि पर्यावरण के विनय में आज जागृति आई है। विनाशक रसायनों शास्त्रों आदि के प्रति आज व्यापक चेतना दीख पड़ती है। शाकाहारी क्रांति भी हो रही है।

यह जान लेना बड़ा जरूरी है कि वनों का संहार बड़ा घातक है। वनराशि ही कास्मिक किरणों से रक्षा प्रदान कर सकती है। वनों के कटने से ताप बढ़ जाएगा ओजोन की पर्त खण्डित हो जाएगी। ओजोन जो सूर्य की कास्मिक किरणों से रक्षा प्रदान करती है। पशु-हत्या तथा वन-विनाश के खतरों से जैन विद्वानों व समाज-सेवियों ने लगातार सचेत किया है। इसीका परिणाम है कि वर्ल्ड चार्टर ऑन नेचर द्वारा परस्परोग्रहो जीवानाम् का जैन सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। वह एक बहुत ही श्रेष्ठ स्थिति है।

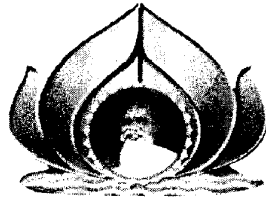
जैनों की आहारचर्या दैनंदिन की धर्म क्रियाएँ व्यवसाय में नीति सम्पन्नता की सीख आदि ऐसी बातें हैं जिनका परिपालन अगर सही रूप में हो तो वह समग्र मानवों के लिए अनुकरणीय होगा। हमारे पास ऐसी अमूल्य धरोहर है कि हम ही शान्ति और भाईचारे की स्थिति में सहायक हो सकते हैं।



पर्यावरण का अर्थ : जीवसृष्टि एवं वातावरण की पारस्परिकता - 115



७_मन में, स्वच्छ हवाओं को प्रवेश दें



16 — मन में, स्वच्छ हवाओं को प्रवेश दें

मन की यात्रा बड़ी विकट है। व्यक्ति का मन असीमित यात्राएँ सम्पन्न करता है। मन की यात्रा में दूरी कोई बाधा नहीं है। मन, अपने स्थान पर स्थिर रह कर ही यात्रा करता है। मन स्वयं कभी थकता नहीं, उसके साथ यात्रा कर रहा मस्तिष्क थकता है। मन अनुकरण करता है, अपनी स्वतः स्फुरणा का भी उपयोग करता है। अनुकरण को सामान्यतः हम नकल भी कह सकते हैं। गलत अनुकरण से मन भटक जाता है, मन भी रूग्ण हो जाता है। मन की स्वस्थता के लिए सुविचार, स्वस्थ प्रदेशों की यात्रा आवश्यक होती है। मन की भीतरी यात्रा बड़ी दुष्कर होती है। मन में मनन करने की शक्ति होती है। वह ज्ञान का अर्जन करता है और अपने अनुभव से प्राप्त ज्ञान को व्यवहार में प्रयुक्त करता है। मन में संकल्प और विकल्प का क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। मन में इच्छाओं कामनाओं की जो एक सतत श्रृंखला चलती रहती है। वह मन को चंचल बनाती है। यही मन की अशांति का कारण भी है।

व्यक्ति का मन जब जब स्वार्थों से भरा पूरा होता है तो समस्याओं का विस्तार होने लगता है। बहुधा वह बाहर की यात्रा ही अधिक सम्पन्न करता है। वह अपने में कम झांकता है तथा औरों पर अधिक हाहट रखता है। या यूं

कहें कि वह औरों के दोष ही अधिक देखता है, बात-बात में मीन मेख निकालता है। इस कार्य में मन लिस रहता है। वह निरन्तर उसे ही सत्य साबित करने में प्रवृत्त रहता है। जो वह करता है वह कभी भी स्वयं को स्वयं की जांच करने का अवसर नहीं देना चाहता। विडम्बना ही है कि मन अन्तर्मन की यात्रा से निरन्तर परहेज रखता है।

आचारांग के एक सूत्र के अनुसार - मण परिजाणव से णिगंधे अर्थात् जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है। मन की परख का यह सूत्र साधु के साथ ही गृहस्थ के लिए भी उतना ही जरूरी है। आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ बतलाई है।

- (१) विक्षिप्त मन : चंचल विषयों में भटकता हुआ मन
- (२) यातायात मन : इधर-उधर दौड़ता हुआ मन
- (३) श्लिष्ट मन : भीतर स्थिर हुआ मन
- (४) तुलीन मन : आत्मानुभव में अत्यन्त लीन मन

मन की विभिन्न अवस्थाओं का बड़ा सूक्ष्म-संदर्भ प्रस्तुत है। विक्षिप्त अवस्था में मन अपनी मूल प्रवृत्ति का परित्याग कर देता है और उस पर अन्य अनेक प्रभाव आ जाते हैं वे प्रभाव बहु आयामी होते हैं इसलिए उनमें चंचलता आना स्वाभाविक है। उसीके चलते मन यातायात में प्रवृत्त होता है। वह यात्रा प्रारम्भ करता है। मन की यह यात्रा चांचल्य के कारण इधर-उधर के भटकाव में चलती है। जब मन स्थिर हो जाता है तब वह लिष्ट हो जाता है, संयम हो जाता है। स्थिरता और एकाग्रता के द्वारा वह तल्लीनता पाता है और लक्ष्य पाता है। एक लक्ष्य पाकर वह उस पर स्थिर रहकर भीतर की यात्रा प्रारम्भ करता है।

बहुधा व्यक्ति स्वयं के दोष कम और अन्यो के अधिक देखते हैं यही कारण है कि श्रेष्ठताओं से वंचित रहना पड़ता है। रेल से एक यात्री यात्रा कर रहा था। उसके पास बहुत सारा धन था। उसे यह आभास हो गया था कि उसका एक सहयात्री

उसके धन को हथियाने के उद्देश्य से उस पर कड़ी नजर रख रहा है। वह यात्री सजग था। जब वह सो जाता तब सहयात्री उसके सारे सामान को टटोलता, पर उसे आश्चर्य होता कि उसके सारे सामान में कहीं भी वह धन नहीं मिलता। खबर पक्की थी, विश्वस्त स्रोत से प्राप्त हुई थी। चोर ठगों का भी एक दूसरे के सूचनाएं देने का पुखता इंतजाम रहता है। उसी आधार पर सूचना पाकर वे कार्यरत रहते हैं। पूरी यात्रा में हर तरीके से सहयात्री ने अनेक बार टटोलकर धन की खोज की, परन्तु उसे वह नहीं मिला। अंततः लक्ष्य स्थान भी आ गया। यात्री को ले जाने के लिए उसका पुत्र भी आ गया। यात्री ने पुत्र को धन दिया और कहा-मैं जरा रास्ते में कुछ अन्य आवश्यक कार्य सम्पन्न कर आता हूँ, तुम चलो। पुत्र चला गया। सहयात्री आश्चर्य से देखने लगा।

सहयात्री से रहा नहीं गया। उसने यात्री का लोहा मानते हुए पूछा - महाशय ! मैं अपने उद्देश्य को नहीं पा सका, परन्तु क्या आप बतलाएंगे कि आपने अपना धन कहाँ सुरक्षित रखा था ? मुस्कराते हुए यात्री ने कहा - बंधु ! आपका सारा ध्यान मुझ पर केन्द्रित था और मुझमें मेरे सामान में ही अपने को टटोलते रहे अपने मन को स्थिर नहीं किया। अपने चिंतन पर जोर नहीं डाला, स्वयं को नहीं टटोला। अपनी मन की यात्रा भीतर की ओर नहीं चली। आप यदि अपना सामान टटोलते तो आप जो पाना चाहते थे, वह पा लेते। परन्तु आपने एक क्षण भी अपने को नहीं टटोला। आपके जरा से भी इधर उधर होने में मैं सोने से पूर्व अपनी रकम आपके सामान में रख देता था और फिर चैन की नींद सो जाता था।

बन्धुओं ! इस प्रकार हम देखते हैं कि जो भी मन की भीतरी यात्रा से विमुख रहता है वह अपना मुख्य लक्ष्य नहीं पा सकता है। जो कुछ भी आप बाहर पाते हैं या देखते हैं उसके प्रति मन में भी मनन कीजिए। इस मनन के लिए मौन भी एक कारगर उपाय है। मौन से यह मेरा तात्पर्य है, मन का मौन। मन को स्थिर करने की युक्ति में जो सफल होते हैं उनका चिंतन भी ऊर्ध्वता पाता है। उस स्थिति में मन के संवर्ष पर

विराम लग जाता है । कहा भी है -

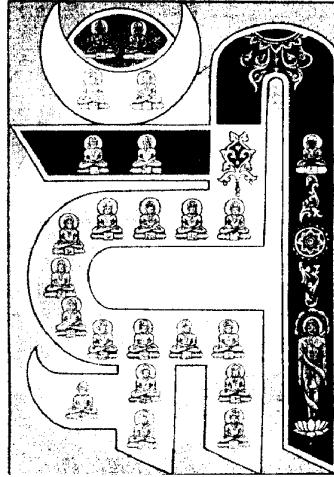
**मन की यात्रा बड़ी विकट है,
वही सफल है जो अपने निकट है ।
संकल्पों विकल्पों की होड़ व्यर्थ-
स्थिर मन के समक्ष लक्ष्य प्रकट है ।**

मन के वातायन को खोल दें, उसमें स्वच्छ हवाओं का प्रवेश होने दे । निरंतर अपनी सोच को ऐसे आयाम दे कि आपका सोचा हुआ सार्थक हो सके । अपनी हित-चिंता के साथ ही औरों के सुख का भी मन में विचार लाये लेकिन जो भी विचार कार्य रूप में लाना चाहे उसका चिंतन अपने मन में पूरी सजगता से कर लें । मन को अवहेलित न करे, उसे अपने ही साथ चलने दें । अपने साथ लेने का अर्थ पवित्र विधायक विचारों से है । विधायक विचार विश्व में मंगल को प्रसार देते हैं । आज चारों ओर जो गडबड़ियाँ है, वे अशुभ अपावन विचारों के कारण है । तन के स्तर कुशलता के साथ बाह्याचार निभाने वाला साधना के क्षेत्र में लड़खड़ा जाता है । यदि वह वैचारिक स्तर पर अप्रामाणिक है । व्यक्ति मानसिक शुभ विचारों के आधार पर ही संभव है । रागद्वेष-मोह-विषमता और प्रतिशोधात्मक विचार हर स्थिति से परिहेय है । जो लोग निकृष्ट विचारों का अपने भीतर संयोजन करके चलते हैं वे सबसे स्वयं का अनिष्ट करते है । वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण और ध्वनि प्रदूषण आदि से ज्यादा खतरा वैचारिक प्रदूषण से है ।

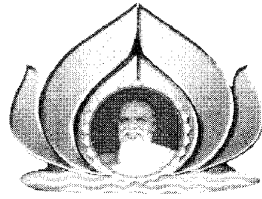
परिवार, समाज, संघ, जाति और राष्ट्र के बीच समय-समय पर उभर आने वाले क्लेशों के मूल में विकृत विचारों का विष प्रमुख है । ईर्ष्या, घृणा, द्वेषजन्य विचारों से जुड़कर हम ऊर्जा को नष्ट करते हैं यह स्पष्ट है । मन के शुभाशुभ विचारों के आधार पर ही बन्धन और मुक्ति है । बंधन और मुक्ति को बाहर में तलाशना व्यर्थ है । आंगन शुद्धि, वस्त्र प्रक्षालन, तन शुद्धि की तरह मानसिक विचारों की

मन में, स्वच्छ हवाओं को प्रवेश दें - 121

पवित्रता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। हर स्थिति में अपने विवेक को जागृत रहने दें। ऐसी सजगता रखे कि जब जीवन का पटाक्षेप हो तो उसके बाद लोग आपको अपनी उज्ज्वलताओं के लिए याद रखे आप ऐसे प्रभाव छोड़ जाए कि युगों तक उनकी सगुंध वातावरण में व्याप्त रहे। एक अजनबी की तरह जग में आना और चले जाना जीवन की व्यर्थता है। मनुष्य जीवन बड़े पुण्य से मिलता है उसे पुण्य में ही खपाएँ।



17_संयम का अर्थ है - आध्यात्मिक शक्ति



17 — संयम का अर्थ है - आध्यात्मिक शक्ति

भा रतीय संस्कृति का मूल आधार जप, त्याग और संयम है। संयम में जो सौन्दर्य है, संयम में शक्ति है वह भौतिक भोग-विलास में कहाँ है ? भारतीय धर्म और दर्शन के अनुसार संयम में से आध्यात्मिक संगीत प्रकट होता है। इस बात को यों ही कहा जा सकता है कि - संयम का अर्थ आध्यात्मिक शक्ति है। भारतीय चिंतकों ने संयम की महत्ता का संगान किया है।

भारतीय धर्म दर्शन और संस्कृति भौतिक नहीं अपितु आध्यात्मिक है। यहाँ प्रत्येक व्रत-तप-जप और संयम को भौतिक दृष्टि से नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से आंका जाता है। संयमी व्यक्ति अध्यात्म को भूलता नहीं है, संयम के अभाव में साधक भोगवाद के दलदल में फँस जाता है और अपनी आत्मा के स्वरूप को भूल जाता है। आत्म स्वरूप की, अध्यात्म की विस्मृति ही भव-भ्रमण है। विविध प्रकार की त्रासदियो एवं क्लेशो का आगमन है।

जीवन में प्रलोभ का त्याग कर संयम का आचरण करना ही मानव जीवन का अभिष्ट होना चाहिए। पर होना चाहिए तथा होता है मैं एक बहुत बड़ा फर्क रहता है। यही फर्क मानव-जीवन की पीड़ा है, विडम्बना है। भौतिक सुखों का प्रलोभन मनुष्य को सदा ही उलझाता रहता है।

भोग मनुष्य को जीर्ण शीर्ण बना देता है। भोग में फंसा व्यक्ति यौवन काल में ही वृद्धत्व का अनुभव करता है। फूल खिलते हैं पर यदि वातावरण में ताप फैलता है तो वे ही फूल मुझाने लगते हैं। इसी तरह जो मनुष्य प्रशांति के वातावरण में स्थित है वह संयम की ओर अग्रसर होता है। भगवान महावीर का कथन है -

पुढवी साली जवाचेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।

पडिपुण्णं नालमेगस्स, हइ विज्जा तव चरे ॥

चावल और जौ आदि धान्यों तथा स्वर्ण और पशुओं से भरी है यह धरती, किन्तु यह भी लोभी मनुष्य को तृप्त करने में असमर्थ है, यह जानकर संयम का ही आचरण करना चाहिए।

संयम का आचरण करने के लिए प्रलोभनों से दूरी अति आवश्यक है। मनुष्य को अपनत्व का भान और ज्ञान होना चाहिए। उसके लिए विमोह की प्रवृत्ति बलवती होना जरूरी है। ममत्व से ही प्रलोभ या स्वार्थ की उपज होती है, अतः ममत्व का परित्याग भी जरूरी है।

अपार धन वैभव भी और और की चाह वाले मनुष्य को संतोष दे ही नहीं पाता। संयम से व्यक्ति को चाह से छुटकारा मिलता है, उसमें संतोष का भाव प्रबल होता है। चाह की इच्छा की कोई सीमा नहीं होती। जहाँ सीमा ही नहीं है वहाँ किस रेखा किस बिन्दु पर इति हो, विराम हो तय कर पाना सहज नहीं हो पाता है। ऐसे में निरंतर ऊर्जा क्षीण हो जाती है। सारे सुख जो अमृत तुल्य लगते थे वो विष के समान हो जाते हैं। प्रकाश की जगह अंधकार आ जाता है। तब मनुष्य की प्यास को और अधिक उभर उठने का अवसर मिलता है और वह एक लंबी तृष्णा के घेरे में आ जाता है। वैभव-ऐश्वर्य की कोई भी परिसीमा तक व्यर्थ लगती है। धैर्य के अभाव में पीड़ा का अनुभव ओर भी गहरा हो जाता है। संयम का मार्ग कंटको से भरा है फिर भी उस मार्ग पर जानेसे संतोष धैर्य तृप्ति की उपलब्धि हो जाती है। जीने की शर्त है कि व्यक्ति अपने को योग्य सीमाओं से आबद्ध करें। हिंसा से, असत्य से, संचय से, चोरी से, अब्रह्मचर्य प्रवृत्ति से विलग रखे, तभी शांति और सद्भाव का वातावरण

संयम का अर्थ है - आध्यात्मिक शक्ति - 125

स्थापित हो सकता है। सर्वस्व प्रलोभन से विनाश ही होता है। लोभ के कारण अपना ही सर्वस्व खो देने का यह प्रसंग बड़ा मार्मिक है। एक व्यक्ति ने एक सूने स्थान में एक आवास बनाया। उसमें एक कमरा वह राहगीरों को विश्राम के लिए भी दे देता था। अक्सर कुछ राहगीर काफी माल भत्ते के साथ भी आते। एक बार उसके मन में लोभ जागा और उसके अपनी पत्नी के साथ मिलकर उन राहगीरों को जान से मारकर उनका धन हथियाना शुरू कर दिया। उनके पास काफी धन इकट्ठा हो गया फिर भी लोभ मिटता नहीं था। पत्नी ने समझाया कि अब हमें लोभ छोड़कर संयम से काम लेना चाहिए। पर उसके मन में तो लालसा के नाग ही फुंफकारते रहे।

एक दिन एक राहगीर आया। उसके पास बहुत सारा धन था। उसने वह सारा धन उस दम्पति को सौंप दिया। परंतु अपना परिचय जानबूझकर नहीं बताया सदा की भांति उस व्यक्ति ने उसे भी मार दिया ताकि उसका सारा धन उन्हीं के पास रह जाए।

दूसरे दिन पास के गाँव में ही रहने वाली एक युवती आई। उन्होंने पहचाना कि वह तो उनकी ही पुत्रवधू है। वर्षों पूर्व उससे पुत्र का रिश्ता किया था। सोच रहे थे कि पुत्र, जो काफी समय से अपने मामा के यहाँ व्यवसाय कर रहा है, आएगा तो गौना करा लेंगे।

युवती ने पूछा कि वह कहाँ है जो कल रात आये थे। युवती की आँखों में लज्जा थी। दम्पती ने यह सुना तो वे सकते में आ गए। उन्होंने लोभ के वशीभूत अपने ही पुत्र को मार डाला था।

आपने देखा कि लोभ के कारण कितना बड़ा अनर्थ हो गया। दम्पती ने अपने एकमात्र पुत्र को अपने ही हाथों से मार दिया-यह तो अनजाने में हुआ, परंतु आजकल तो ऐसा कर्म जानबूझकर भी किया जाता है। धन के प्रलोभ में व्यक्ति को पिता पुत्र भाई किसीका भी भान नहीं रहता।

जीवन में संयम का महत्त्व आप जान गये होंगे। संयम का अर्थ विराग ही नहीं होता, गृहस्थ भी अपने व्यवहार में संयम की सीमा का निर्धारण करके अपने आपको कई यंत्रणाओं से बचा सकते हैं। लोभ की लालसा की आग में सब कुछ जलकर

खाक हो जाता है। मानव की नीतिमत्ता, प्रामाणिकता, चारित्र्य सभी लोभ के चलते न्यून या शून्य हो जाते हैं। लोभ भी एक प्रकार की पराधीनता ही है। पराधीनता का सुख आरोपित सुख है शाश्वत नहीं।

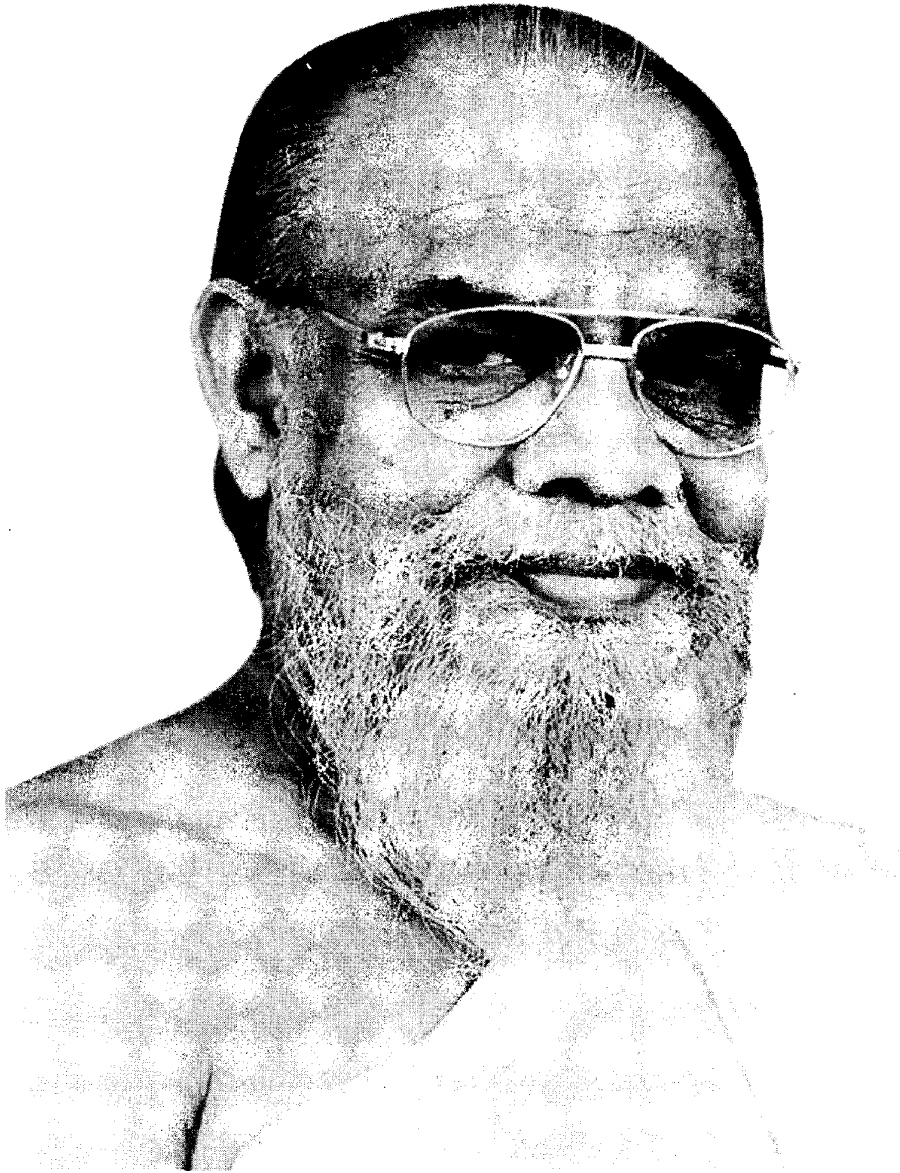
वास्तव में जीवन के लिए धन आदि की जरूरत होती ही है। उसका पूर्णतः परित्याग गृहस्थ के लिए संभव नहीं है। परिग्रह का अर्थ इसलिए थोड़ा गहराई से जानना होगा। भगवान महावीर ने कहा है - 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' अर्थात् मूर्छा भाव ही परिग्रह है। त्यागी वर्ग भी जीवन यापन के कुछ साधन रखते हैं पर उनमें उनकी जरा भी आसक्ति नहीं होती है। संग्रह यदि आवश्यकता से अधिक हो तो वह संयम की बाधा बनता है। जो व्यक्ति संग्रह की परिसीमा नहीं बांधता उसको कभी भी संतुष्टि नहीं हो पाती है। कहना होगा -

**लोभ-प्रलोभ का अंत नहीं होता,
इस मद में मानव चारित्र्य खोता ।
क्या लाभ है उसमें जो अलाभ ही दे,
संयम छोड़ क्यू विष के बीज बोता ॥**

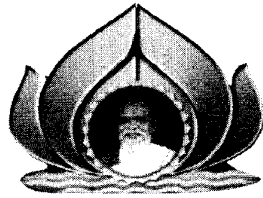
अंतहीन रास्ते पर जाने से भला क्या लाभ है ? वह किसी लक्ष्य पर नहीं पहुँचता। उस रास्ते पर जाकर मनुष्य सिर्फ खोता ही खोता है। यहाँ तक कि अपने चारित्र्य जल से भी हाथ धो बैठता है। यह एक ऐसी प्राप्ति है जिसमें परिणाम में शून्य ही हाथ लगता है। लोभ विष के समान है जो संयम के अमृत को भी व्यर्थ कर देता है। वैभव और विलास की प्रतीक द्वारिकानगरी भी एक दिन भस्म हो गई। कोई भी प्रयत्न उसे बचा नहीं सका। जो नष्ट होता है उसके पीछे भागने में कोई सार नहीं है, जग में तो रहना है मगर उसने ममत्व नहीं रखना यही संयम की उत्तम वृत्ति है।



संयम का अर्थ है - आध्यात्मिक शक्ति - 127



१८_धर्म का विशाल दृष्टिकोण



18 — धर्म का विशाल दृष्टिकोण

सच्चे मानव का जीवन अथ से लेकर इति तक धर्म से ओतप्रोत रहता है। वह किसी भी क्षेत्र में गति करता है, चाहे फिर वह क्षेत्र पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्य का हो, व्यवसाय या साधना का हो, धर्म निरंतर उसके साथ रहता है। वह जीवन के हर मोड़ पर, आयाम पर उसे ठीक गति देता है, निरंतर ऊपर उठने की ओर प्रेरणा देता रहता है। परन्तु उसके विपरीत जब जीवन के साथ धर्म को औपचारिक रूप से अमुक क्षेत्र या काल तक जोड़ लिया जाता है तो मानव जीवन की सही दिशा से भटकने लगता है।

आज हमारे सामने यही स्थिति है, हम वर्तमान में एक ऐसे विश्व में जीवन यापन कर रहे हैं, जिसमें सारा वातावरण औपचारिकता, सन्देह, अनिश्चितता और भय से भरा हुआ है। विश्वासों और विचारों में मानवीय मन की आधार-भूत श्रेणियों में परिवर्तन की आवाज सुनाई दे रही है। इतना ही क्यों? मानव अपने आप में इतना सीमित हो गया है कि अपने दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की, धर्म की व्याख्या करता है और तदनुसार जीवन का व्यवहार करता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो दिन-रात में एक-दो घण्टे के लिए ही धर्म से नाता जोड़ते हैं, कुछ-

कुछ विचारणीय अवकाश की प्रतिज्ञा में रहते हैं, कुछ विशेष तीज-त्यौहार, पर्व की राह देखते हैं। इस प्रकार की कृति, वृत्ति में तो जुए की सी गन्ध आती है कि एक दाव लगाया और बहुत जीत लेने के बाद समझ लिया कि अब क्या चिन्ता है।

सम्पूर्ण आत्माएं समान है, उनके सुख-दुःख अपने से विलग नहीं है और 'सर्व भूयप्प भूयस्स' अथवा 'सर्व भूत हिते रता' का आदर्श, आदर्श मात्र रह गया है। इससे आगे बढ़ने की बात सोची ही नहीं जाती है, लेकिन बुद्धिमान और अनुभूतिशील मनुष्यों का विश्वास है कि हमें मानवता सुरक्षित रखना है तो प्रमाद मुक्त एवं धर्म से युक्त होना ही होगा।

सुख का लक्ष्य होने पर भी उसकी प्राप्ति के हमारे सामने दो मार्ग है। एक विज्ञान का और दूसरे धर्म का। विज्ञान ने सुख प्राप्ति और दुःख से छुटकारे के लिए जो प्रणाली अपनायी एवं विज्ञानवेत्ता जिस ओर प्रयत्न कर रहे हैं, उनसे सुख मिलेगा या नहीं, यह काल्पनिक है। लेकिन इतना निश्चित है कि या तो हम पूर्ण विनाश की ओर छलांग लगा लेंगे या ऐसे बौद्धिक अंधकार अथवा बर्बरता के काल की ओर बढ़ने की तैयारी कर रहे होंगे, जिससे मनुष्य पुरुषार्थ द्वारा अर्जित कल्याणकारी उपलब्धियाँ स्वयं मनुष्य द्वारा तहस-नहस कर दी जाएगी, जिससे उनका अभाव दुःखी, निराश और पीड़ित करने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकेगा - ऐसी स्थिति अपने आप में भयानक है। कौन ऐसा होगा जो उपलब्धियों की भस्म पर जीवन के भव्य भवन का निर्माण करना चाहेगा। अतः विज्ञान की विपरीत दिशा और गतिशीलता के फलस्वरूप विश्व निर्णय एक ऐसे केन्द्र बिन्दु पर आ खड़ा हुआ है, जहाँ उसके समझने के सिर्फ दो ही विकल्प है - प्राणी मात्र के प्रति मानवीय भावों का विस्तार या प्रतिक्षण विनाश की मंत्रणा से पीड़ित रहने की परंपरा की स्वीकृति और अपने को अपने आप नष्ट कर देने की तत्परता। लेकिन अपने आपको नष्ट कर देना संभव नहीं है। किसी भी पदार्थ का स्वभाव, धर्म नष्ट नहीं होता है तो यह सचेतन प्राणधारियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाने वाला मानव अपने आपको कैसे नष्ट कर देने के लिए विनाश के मार्ग पर आरूढ़ और अग्रसर होगा? अतएव मानव को कुछ ना कुछ निर्णय अवश्य

करना होगा। लेकिन निर्णय करने से पूर्व इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता है कि मानव में शांति की तीव्र आकांक्षा और अपने दायित्वों के प्रति सजगता मानवीय भावों की ओर ही बढ़ाती रही है। उसका विश्वास रहा है कि भले ही अनेक रुकावटें आये, विघ्न बाधाएं हों, परंतु यह निश्चित है कि मानव विवेकपूर्ण विश्व की ओर बढ़ेगा एवं उसकी गति रचनात्मक साहस व बुद्धिमत्ता द्वारा तय होगी। उत्तम भावना साधारण मानव ही नहीं अपितु उन बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं की भी हैं जो संहारक शस्त्रों के सृजन में संलग्न हैं और उन राजनीतिज्ञों को भी है जो शक्ति संतुलन के नाम पर अस्त्र शस्त्रों के अम्बार लगा रहे हैं।

इस विश्वास का कारण क्या है? कारण बहुत ही सीधा सादा और सरल है - मानव का, प्राणधारियों में स्वानुभूति के दर्शन, सार्वभौम-सार्वकालिक चेतना का सम्बन्ध। क्यों कि विकास करने और अच्छा बनने की इच्छा हमारी ही नहीं वरन प्रत्येक प्राणी की स्वभावगत आकांक्षा है। इसके लिए अनवरत प्रयत्न चलते रहे हैं और प्राप्त करने पर जो शांति होती है इसका नाम है - धर्म। यह हमसे अनेक बोलियों में बातें करता है, अनेकारूपों में हमारे सामने आता है। जब चराचर विश्व के पदार्थों की बात करता है तब वत्थु सहाओ धम्मो के रूप में उपस्थित होता है। जब चेतन पदार्थों को लक्ष्य में रखकर बात करता है तब “उपयोगो लक्षणम्” के रूप में व्यक्त होता है। आत्म (लक्ष्य) की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र के रूप में धर्म प्रकट होता है। यहाँ जैसा हम सुख चाहते हैं वैसा ही दूसरे भी चाहते हैं तब “आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्” का स्वर मुखरित करता है। इसी प्रकार स्व और पर आत्मा के विकास के लिए जो भी अन्य कारण या कार्य है - वे सब धर्म है। इधर इन सब का अर्थ है आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आदर, सत्य के प्रति प्रेम न्याय और दया, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति और प्राणीमात्र के प्रति भ्रातृत्व में विश्वास आदि।

इनके द्वारा हम धर्म के विशाल और उदात्त दृष्टिकोण का स्वयं ज्ञान कर सकते हैं, और दूसरों को भी परिचित कर सकते हैं। धर्म हर क्षेत्र में हर स्थान में और हर समय जीवन के साथ सम्बंधित रहता है। वह जीवन के कण-कण में व्याप्त है और जीवन

प्रवाह के साथ निरंतर प्रवाहमान रहता है। जीवन की हर सांस के साथ गतिशील है। यद्यपि धर्म, अपने रूप में आध्यात्मिक विकास के लिए आह्वान है, लेकिन आत्मा का क्षेत्र स्व तक सीमित नहीं है। प्रत्येक सचेतन में आत्मा का वैसा ही परिस्पन्दन हो रहा है, जैसा कि स्व में। अतः धर्म के आशय को सिर्फ अपने आध्यात्मिक जीवन के विकास तक सीमित कर लें तो हम उसके विशाल और उदार दृष्टिकोण के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। पक्षपात के पिंजरे में बन्द करके स्व-इच्छा स्वैच्छाचार को भी धर्म कहने की हिमाकत कर बैठेंगे।

जैसा कि इसके नाम से ध्वनित होता है, धर्म एक ऐसी संघटक परस्पर बांधने वाली शक्ति है कि जिन आदर्शों को व्यक्ति के रूप में हम अपने लिए पसंद करते हैं, जिन मान्यताओं को अपनाते हैं, जिन मूल्यों का हम रक्षण पोषण करते हैं, उन्हें दूसरे भी स्वीकार करते हैं। अतः हम उन्हें सामूहिक अभिव्यक्ति प्रदान करें। उन सबकी व्याख्या कर दूसरों को भी वैसा आचरण करने की प्रेरणा दे। यह मानव मात्र का स्व पर कल्याण के लिये किया जाने वाला कर्तव्य है। इसीलिए धर्म के विशाल दृष्टिकोण से सर्व-साधारण को परिचित कराने के लिए कोषकारों ने स्वभाव, कर्तव्य, सत्कर्म, सदाचार, नीति आदि अनेक अर्थ दिये हैं जो यथा अवसर प्रयुक्त होते हैं और किस अर्थ में कहा प्रयुक्त करना यह प्रयोक्ता की हेयोपादेय करनेवाली बुद्धि पर निर्भर है।

जब हम दूसरों को अपने आदर्शों, जीवन मूल्यों को प्रवृत्ति में उतारने के लिए प्रेरणा देते हैं तो उनके प्रसार करने के लिए कोई न कोई प्रायोगिक व्यवस्था अंगीकार करनी ही होगी। यह व्यवस्था आचार द्वारा ही की जा सकती है। धर्म में चिंतन है, मनन है तो उसके साथ आचार भी है। आचार के लिए अवश्य तीन शब्द पृथक-पृथक है, लेकिन तीनों एक ही वस्तु के तीन आयाम है। इस दृष्टि से धर्म का जो रूप सामने आयेगा वह होगा अशुभ से निवृत्ति के लिह शुभ में प्रवृत्ति। इस व्याख्या में धर्म का चिंतन पक्ष भी सबल हैं और मनन व आचरण पक्ष भी। अशुभ क्या है और शुभ किसे कहना यह चिंतन, मनन पक्ष की ओर इशारा करता है और उनसे अनुप्राणित प्रवृत्ति आचार की अभिव्यक्ति करती है।

धर्म का सम्बन्ध पारलौकिक सुखों की प्राप्ति तक सीमित नहीं है। उसका सम्बन्ध इस लोक से भी है, इहलौकिक जीवन में भी सुख, शांति, संतोष प्राप्ति के लिए भी आवश्यक है। जो व्यक्ति को अपने वर्तमानिक जीवन में परिवार, समाज और राष्ट्र में एक सच्चे इन्सान की तरह जीने की कला नहीं सिखा सकता, क्या वह धर्म है? धर्म के फलने-फूलने व व्यापक होने का क्षेत्र यह विश्व है। अतः धर्म व विश्व धर्म व इहलौकिक जीवन का पार्थक्य नहीं किया जा सकता है। मानव को अपना कर्तव्य भुलाकर अन्यथा प्रवृत्ति करने से रोकने की सामर्थ्य धर्म में ही है।

धर्म सिर्फ 'मैं क्या हूँ' का ही उत्तर नहीं देता है, बल्कि "मेरा क्या कर्तव्य है" इसकी भी स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करता है। किं कर्तव्य विमूढ अस्तव्यस्तता में प्राणी मात्र का पथ प्रदर्शक है। पतन के समय उसके कर्तव्य, आचार-विचार को बतलाने में धर्म सबल आधार बनता है और अनुशासन में लाकर सुख शान्ति पूर्ण जीवन की ओर बढ़ने का राज मार्ग प्रस्तुत कर देता है। अतः जीवन के साथ धर्म का संबंध किसी अमुक समय तक ही नहीं किन्तु यावज्जीवन के लिए जोड़ना चाहिये।

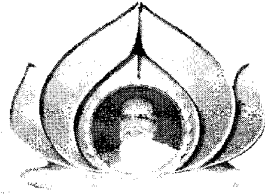
यह धर्म का विशाल और उदार दृष्टिकोण है कि उसमें आध्यात्मिक विकास के साथ लौकिक विकास का भी संकेत किया गया है। जिसका आशय इस विशाल दृष्टिकोण के द्वारा स्पष्ट होता है -

**सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत् ॥**

चाहे फिर इसको नैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, पारमार्थिक आदि किसी भी नाम से ही कहे वे सब धर्म के ही रूप होंगे। किन्तु किसी एक रूप पर पार देना धर्म के विशाल और दृष्टिकोण की अवहेलना करना है। धर्म को अलग-अलग पंथों और सम्प्रदायों में नहीं बाँटा जा सकता। वह तो सदा सर्वदा देश, काल, व्यक्ति, परिवार आदि की सीमाओं से परे रहता हुआ प्राणी मात्र को प्रकाश देता है और दे सकता है एवं देगा।



ॐ_आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्व मीमांसा



19 — आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्व मीमांसा

आध्यात्मिक विकास के लिए तत्त्वबोध नितांत अनिवार्य है। सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मय का स्वर है कि सर्व प्रथम तत्त्व का सम्यक्बोध करो। अपने आपको पहचानो। अपनी अनंत शक्तियों का भान करो। फिर कुछ भी अज्ञान नहीं रहेगा। आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ ज्ञान है।

आत्मबोध, आत्मज्ञान निर्वाण का द्वार है। ज्ञान-ज्योति के अभाव में स्वभाव के भीतर व्याप्त कामनाओं का अंधेरा छंट नहीं सकता है। कषायों के, विषमताओं के, मोह के अंधेरे को तोड़कर ही निःश्रेयस के परम आलोक में चेतना अंतर स्नान करती है। आध्यात्मिक उन्नयन के लिए तत्त्वबोध सर्वोपरी है। बोध का सूर्योदय होते ही अवरोध का तमस छूट जाता है।

अध्यात्म दृष्टि से तत्त्व तीन प्रकार के हैं - हेय, ज्ञेय और उपादेय। हेय, ज्ञेय और उपादेय किसे कहते हैं, कौन-कौन से तत्त्व, हेय, ज्ञेय और उपादेय है, इसे ठीक तरह से समझ लेना चाहिए। अगली पंक्तियों में इस तथ्य को मैं स्पष्ट कर रहा हूँ -

- जो जानने योग्य है, वह ज्ञेय तत्त्व है।
- जो छोड़ने योग्य है, वह हेय तत्त्व है।
- जो ग्रहण योग्य है वह उपादेय तत्त्व है।

इन तीनों प्रकार के तत्त्वों को हम जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर निर्जरा-बन्ध और मोक्ष इस प्रकार नौ तत्त्वों के रूप में जान सकते हैं। स्थानांग सूत्र में इस तथ्य को पुष्ट करनेवाली एक गाथा है -

“नव सम्भाव पयत्था पण्णता तंजहा - जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावो,
आसवों, संवरो, निज्जरा, बंधो, मोक्खो।”

जीव, जिसका लक्षण उपयोग है, जिसे सुख दुःख का ज्ञान होता है और जो ज्ञानादि शक्तियों का पुंज है उसे जीव कहते हैं। जीवों के मध्यम १४ भेद हैं और उत्कृष्ट ५६३ भेद हैं। जीव का विपक्षी अजीव है, जो कि जड़ पदार्थ है, उपयोग शून्य है और सुख-दुःख की अनुभूति से रहित है। अजीव के मध्यम भेद १४ है और उत्कृष्ट ५६० है।

कर्मों की शुभ प्रवृत्तियाँ-पुण्य कहलाती है। यह नौ तरह से बांधा जाता है और ४२ प्रकार से भोगा जाता है। कर्मों की वे अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप कहलाती है, जिनसे आत्मा का पतन हो जाता है। पाप कर्मों का बन्ध १८ प्रकार से बांधा जाता है और ८२ प्रकार से उसका फल भोगा जाता है। जिसके द्वारा शुभ और अशुभ कर्मों का ग्रहण किया जाए उसे आस्रव कहते हैं। इसीको बंध का कारण भी कहते हैं। मोटे रूप से आस्रव के बीस भेद है। समिति गुप्ति द्वारा आश्रवों का निरोध ही संवर कहलाता है। संवर बीस तरह से होता है। फल भोगकर या संयम और तप से कर्मों को धीरे-धीरे क्षय करना ही निर्जरा है। निर्जरा के १२ भेद हैं। आश्रव के द्वारा आए हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बन्ध है। प्रकृतिबन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध इस तरह बन्ध के चार प्रकार है। कर्मों में बन्ध से सर्वथा छूट जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप लीन हो जाना मोक्ष है। मोक्ष के भी चार प्रकार हैं।

यहाँ, यह समझ लेना चाहिए कि तथ्य, तत्त्व, परमार्थ, पदार्थ ये सब पर्याय-वाचक शब्द है। तत्त्व-पदार्थ अनादि अनंत है, स्वतंत्र सत्तावाले है, द्वादशाङ्ग गणि पिटक का निष्कर्ष है। जिनका अस्तित्व सदा रहता है, उन्हें तथ्य कहा जाता है।

सत्य सदैव एक समान रहता है; किन्तु असत्य बदलता रहता है। सत्य स्वयं प्रकाशमान है, असत्य को प्रकाशित करना पड़ता है। इसी अपेक्षा से तत्त्व को तथ्य भी कहा जाता है। जिसके द्वारा परम और चरम लक्ष्य को जानकर भौतिकता से निवृत्ति और आध्यात्मिकता में प्रवृत्ति हो, वह परमार्थ है, जिस तत्त्व में सभी भावों का अन्तर्भाव हो जाता है उसे पदार्थ कहा जाता है। जैसा कि प्रारंभ में स्पष्ट किया जा चुका है, कुल मिलाकर तत्त्व नौ हैं।

आगम शास्त्रों में नौ तत्त्वों के वर्णन का ही विस्तार है। कहीं कहीं पुण्य और पाप को आश्रव पर बन्धत्व में समाविष्ट करके मूल तत्त्वों की गणना सात ही मानी गई है किन्तु स्पष्टता की दृष्टि से नव तत्त्व की स्वीकृति को ही विशेष मान्यता प्राप्त हुई है।

इन नौ तत्त्वों में कौन तत्त्व हेय, ज्ञेय और उपादेय है यह बोध भी कर लेना आवश्यक है। हेय का अर्थ त्याज्य अर्थात् छोड़ने योग्य है। पाप, आश्रव और बन्ध ये तीन तत्त्व जानने योग्य तो हैं किन्तु आचरणीय नहीं अपितु अनाचरणीय है अतएव हेय अर्थात् त्याज्य है। इनका संग साथ स्वभावत्व में विकृति का सूत्रपात करता है।

जीव, अजीव और पुण्य ये तीन तत्त्व उपादेय अर्थात् ग्राह्य हैं। जो कुछ हम पढ़ते सुनते अथवा जानते हैं उसमें से कुछ बातें ज्ञेय होती हैं, कुछ हेय होती हैं तो कुछ उपादेय होती हैं। विवेक-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न वही है जो उपादेय है उसे ग्रहण कर ले। हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण जीव को विकास देता है। ज्ञेय पदार्थों को जानने से जीवन में विवेक का उदय होता है।

पुण्य को लेकर कई तरह की विचारधाराएं विकसित हुई हैं, पर कोई भी विचारधारा जब एकान्त आग्रह के रूप में विकसित होती है तो कई तरह की विसंगतियां, कई तरह की गड़बड़ियाँ खड़ी होने लगती हैं। जैन दर्शन, वीतराग दर्शन में एकान्त आग्रह को कोई स्थान नहीं है। वीतराग दर्शन अनेकांत में विश्वास व्यक्त करता है।

जिस भूमिका पर हम जीते हैं, वहाँ एकान्ततः पुण्य को नकार कर चलना, भूल भरा दृष्टिकोण है। पुण्य को सर्वथा रूप से नकारने के बाद शेष रह ही क्या जाता है। चौदहवें गुण स्थान में पुण्य जरूर हेय रूप है, पर साधना काल में पुण्य तत्त्व ज्ञानरूप

है, उस समय वह न त्याज्य है और न ग्राह्य है। धर्म की साधना के लिए मनुष्यत्व, आर्य क्षेत्र उत्तमकुल, निरोगता, दीर्घायु, इन्द्रियों की पूर्णता, उत्तम संहनन, उत्तम संस्थान और श्रमण निर्ग्रन्थों की संगति इन सबका अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। साधना आराधना की रुचि पुण्य के बिना प्राप्त नहीं होती। अतः इस पुण्य भूमिका को पाने के लिए पुण्य उपादेय भी बन जाता है। पुल के अभाव में जब किसी यात्री को नाव के द्वारा महानदी को पार करना हो तो पहले वह नौका उपादेय होती है, मध्य में न हेय और न उपादेय होती है किन्तु पार पहुंचने पर वही नाव यात्री के लिए हेय बन जाती है। पुण्य की स्थिति भी नाव के समान है, वह कभी हेय होता है, कभी उपादेय होता है और कभी न हेय होता है, न उपादेय होता है।

नव तत्त्वों में पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध ये चार तत्त्व रूपी एवं मूर्त है। संवर-निर्जरा और मोक्ष में तीन अरूपी है। जीव का वास्तविक स्वरूप तो अरूपी है किन्तु शरीर इन्द्रियां और मन आदि पौद्गलिक होने के कारण जीवनरूपी भी है। अजीव-तत्त्व के पांच भेद हैं - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय। इनमें केवल पुद्गलास्तिकाय ही रूपी है, शेष सभी अरूपी हैं।

नव तत्त्वों में जीव ही एक ऐसा तत्त्व है - जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है। संवर और निर्जरा मोक्ष प्राप्ति के साधन है। शेष तत्त्व संसार-मार्ग के सहायक है। निश्चय दृष्टि से जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व है। शेष सात तत्त्व जीव और अजीव की पर्याय है। गीली मिट्टी से जैसे गोली बनती है, वैसे ही जीव और अजीव के संयोग एवं वियोग से सात-तत्त्व उत्पन्न होते हैं। सिद्ध भगवान आठ कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, इस कारण वे अरूपी है। साधक का मुख्य साध्य मोक्ष है। उस मोक्ष को और मोक्ष के साधनों को जाने बिना कोई भी साधक कभी भी मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति नहीं कर सकता। यह भी सत्य है कि साधक मोक्ष के विरोधी तत्त्वों और उनके कारणों का स्वरूप जाने बिना भी अपने मोक्षपथ पर पूर्णतः प्रगति नहीं कर सकता अतः अध्यात्मका पथ, मोक्ष पथ को प्रशस्त करने के लिए आसों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को सम्यक् प्रकार से समझना चाहिए।

दार्शनिक चिंतन के दो प्रकार हैं - बाह्य चिंतन के आधार पर अन्तर की चिंतन भूमि में प्रवेश और दूसरा प्रकार है आंतरिक चिंतन शक्ति के आधार पर बाह्य जगत के जाल-जंजाल में प्रवेश। इनमेंसे पहला प्रकार भारतीय दर्शनों का रहा है और दूसरा प्रकार पश्चिम में विकास पा रहा है। उस प्रकार को हम विज्ञान कह सकते हैं। यहीं से दर्शन और विज्ञान के मार्ग भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। दर्शन आंतरिक ज्ञान शक्ति का आश्रय ग्रहण करके चलता है, अतः वह जन्म मरण आदि की सूक्ष्म विवेचना के द्वारा जीवन के गहनतम रहस्यों को प्राप्त कर लेता है। किन्तु वैज्ञानिक प्रयोग नित्य बदलते रहते हैं क्यों कि उसी बाह्य जगत के चरम तत्त्व की प्राप्ति प्रयोगों द्वारा संभव नहीं होती।

इतना अवश्य है कि वैज्ञानिक प्रयोग जन-मानस को शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं, जबकि पूर्ण सत्य तक पहुंचा हुआ दार्शनिक जीव और जगत के मूल रहस्य को पाकर ही कृत-कृत्य होता है।

विज्ञान ने जिस भौतिकतावाद की चकाचौंध को जन्म दिया है उसके कारण आज का मानव अन्तर्द्रष्टा साधक न रहकर बहिर्द्रष्टा बन गया है। अतः वह सब कुछ पाकर भी दुःखी है, परितप्त है, अशान्त है। अतः शान्त जीवन के लिए अन्तर्मुखी चिन्तन मनन पूर्वक दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता असंदिग्ध है।

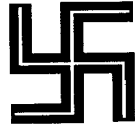
भगवान महावीर ने साढ़े-बारह वर्षों तक साधना करके अपने श्रुत ज्ञान को प्रत्यक्ष करके देखा और सृष्टि के रहस्यों का पर्दा उठाते हुए जो मूल तत्त्व प्रदान किये हैं कुल मिलाकर उन्हें ही नव तत्त्व कहा जाता है। चौदह-पूर्वों का सार नव तत्त्व हैं और नव तत्त्वों की व्याख्या है - द्वादशाङ्गी गणिपीटक।

मुख्यतः विश्व के मूल में अनादि तत्त्व दो हैं-जीव तत्व और अजीव तत्व अर्थात् जड़ सत्ता और चेतन सत्ता। बाह्य शक्ति और अन्तरशक्ति। दोनों शक्तियां अनादि हैं एवं सर्वथा स्वतन्त्र हैं। जीव से अजीव के या अजीव से जीव के, जड़ से चेतन और चेतन से जड़ का विकास का सिद्धांत जैन-दर्शन को कतई मान्य नहीं है, यही एक कारण है कि वह चिन्तन के क्षेत्र में नाना अव्यवस्था दोषों से मुक्त रहा है।

जैन दर्शन ने जीव को ज्ञान दर्शन एवं चेतना स्वरूप मान कर इसको ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला माना है। आगमों में जीव के लक्षण के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है -

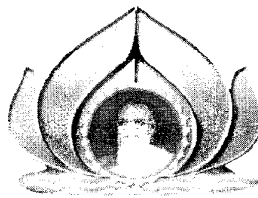
**नाणं च दंसणं चेव, चारितस्स तवो तहा ।
वीरियं, उवओगो अ, एवं जीवस्स लक्खणं ॥**

जीव मात्र का लक्षण, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग सम्पन्न हैं। पुण्य पाप आदि के कारण जीव देव, मनुष्य नरक एवं तिर्यच आदि गतियों में अनंत काल से परिभ्रमण कर रहा है। “जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य” अथवा “पुनरपि जन्मं पुनरपि मरणं” का मूल कारण आत्मबोध का अभाव है। आत्मबोध से जुड़कर चलने पर भव भ्रमण का अवसान एवं आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन का उत्थान सुनिश्चित है।





20_अध्यात्म का स्रोत मन इन्द्रियाँ नहीं : आत्मा है



20 — अध्यात्म का स्रोत मन इन्द्रियाँ नहीं : आत्मा है

अध्यात्म का स्रोत मन इन्द्रियाँ नहीं अपितु चेतना अर्थात् आत्मा है। चेतना का, आत्मा का आभ्यन्तरीकरण उसकी विकास-यात्रा है। अध्यात्म के परिवेश में वही प्रवेश पा सकता है जो मोह के आक्रमण एवं प्रत्याक्रमण को चुनौती दे सकता है। जो जीवात्मा इसका रहस्य जान लेता है, वही अध्यात्म की समर भूमि में डट जाता है।

आत्मा ही सत्य है, आत्मा ही तथ्य है, आत्मा ही सर्व रूपेण सार्वकालिक है। आत्मा की अनन्य प्राप्ति ही संसार से निर्मोह, निर्ममत्व को लाती है। आत्मा की अनुभूति ही जीवन की सच्ची अनुभूति है, सच्ची जीवन चेष्टा है। होने को तो तृष्णा भी सदा-सदा की अवस्थिति है, वह कभी भी जर्जर नहीं होती है। किन्तु ये जो तृष्णा है, वह मोह से जुड़ी है। तृष्णा का अर्थ असंतोष की आकांक्षा है। तृष्णा की संलग्नता से अतृप्ति ही बढ़ती है। जो तृष्णा और कषायों से आत्मा को पृथक कर लेता है उसकी देहयाष्टि भी पवित्र हो जाती है -

अप्पा दंसणु णाणु, मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।

अप्पा संजमु सीलं तउ अप्पा पच्चक्खाणि ॥

आत्मा को ही सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान जानों। आत्मा को ही सम्यग् चारित्र समझो। आत्मा ही संयम है, शील है तप है। आत्मा ही प्रत्याख्यान है या त्याग है। जहाँ

श्रद्धा व रूचि सहित आत्मा में स्थिरता है वहीं भाव-निक्षेपरूप यथार्थ परिणामनशील सम्यग् दर्शन है। ज्ञान में आत्मा का शुद्ध भाव झलकना ही सम्यग् ज्ञान है। साधु या श्रावक का महाव्रत या अणुव्रतरूप आचरण सम्यग् चारित्र है।

आत्मा में गहनता है किन्तु सही रूप से व्यवहृत हो तो गहनता में ही सहजता की प्राप्ति होती है। आत्मा से पार्थक्य होता है तभी जटिलता की जीवन में प्रविष्टि हो जाती है। आत्म रमण को ही सहजता के उपक्रम के रूप में देखा जा सकता है, स्वीकारा जा सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव दुःखी और सम्यकता की दृष्टि से जो जुड़ा है सुखी होता है। जो सबको आत्मदृष्टि से देखता है अर्थात् आत्मा की पर्यायों को नहीं देखता है वह समदर्शी है। समदर्शी वही है जो आत्मदृष्टि से सबको एक सा देखता है। आत्मा स्वभावतः वीतराग है. अतः यह जरूरी है कि हम आत्मस्वरूप को संभाले।

इन्द्रिय, और मन को संभालना अधूरा अपूर्ण दृष्टिकोण है। मन और इन्द्रियों में ही कैद होकर जीवन को बर्बाद कर देना स्वयं के साथ, स्वयं के द्वारा अन्याय एवं अराजकता है. अध्यात्म का दृष्टिकोण ही सच्चा दृष्टिकोण है, इसीसे जीवन, जीवन के रूप में खिलता, संवरता है। अन्यथा आत्मा से, अपने आपसे कट कर तो इस संसार में कई जीते हैं, ऐसे जीवन का क्या अर्थ है जिस जीवन में अध्यात्म का समावेश नहीं है। आत्मप्रतीति के अभाव में की जानेवाली साधना, साधना नहीं अर्थात् विराध है। आगम गाथा है -

**अजरू अमरू गुण गण णिलउ, जहि अप्पा थिरू ठाई ।
सो कम्महि ण बंधियउ, संचिय पुव्व विलाइ ॥**

जहाँ अजर अमर गुणों का निधान आत्मास्थिर हो जाता है वहाँ वह आत्मा नवीन कर्मों से नहीं बंधता है, पूर्व में संचित कर्मों का क्षय करता है। आत्मा में लीन भव्य-जीव मोक्षमार्गी है। आत्मरमण से वीतराग भाव बढ़ता है, बंध रूकता है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण करने से आत्मानंद का रस आता है। आत्मध्यानी ही गुण स्थानों की श्रेणी पर चढ़ सकता है। अपनी आत्मा ही सर्वोपरी है। अपनी आत्मा से विलग होकर मनुष्य चाहे जहाँ भटके, चाहे जिसकी आराधना करे, चाहे जिसको पूज्य

अध्यात्म का स्रोत मन इन्द्रियाँ नहीं : आत्मा है - 145

माने परन्तु एक सार्वकालिक सत्य यही है कि अपनी आत्मा से बड़ा, अपनी ही आत्मा से श्रेष्ठ कोई और नहीं है। जो आत्मा से जुड़ा है वही अनुपम है, वही अद्वितीय है, वह अप्रतिम है। आत्म प्रतीति ही अंततः जीवन उच्चता ग्रहण करता है। उपासकदशांग सूत्र में उल्लेख है - श्रमणोपासक आनंद अपने ही स्वरूप की ओर मुड़ चुका था। आनंद ने उस सूत्र को भी जान लिया था कि 'आत्मा से आत्मा को देखो' यह धर्माचरण का प्रधान सूत्र है। धर्म की स्पर्शता से मनुष्य का जीवन सफलता पा जाता है। आत्मा के द्वारा तप, त्याग, संयम की तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना से प्रबल हुई आत्म-शक्ति, कर्म-शक्ति को परास्त कर देती है।

यह ठीक है कि किसी प्रकार की गति करने के लिए आत्म-शक्ति पर निर्भर है, पर यह भी तथ्य है कि शरीर की कोई भी गति आत्मा के अभाव में संभव ही नहीं है। मूल परख आत्मा की ही हो सकती है। आत्मा, शरीर से बहुत ही आगे की वस्तु है। ज्ञान, आत्मा का निजगुण है। आत्मा से ज्ञान का जुड़ाव है, तभी तो वह अजर अमर है और इसीलिए आत्मा है चिर नवीन, चिर युवा। आत्मा में हर अवस्था में संभवतः इसीलिए परमात्मा की दिव्यता स्थित रहती है। संयम आत्मा की परिणति है, यह शुद्धतम परिणति है।

आत्मा विशिष्ट है। आत्मा अनंत शक्तिमान है। आत्मा को विकृति देने में जो संज्ञा है, उसे मोहनीय कहते हैं। आत्मशक्ति का प्रतिरोध करनेवाला कर्म है, अंतराय। जो आत्मा की ज्ञानशक्ति का निरोध करता है ज्ञानावरणीय कर्म है और जो आत्मा की दर्शन-शक्ति को आच्छादित करता है वह दर्शनावरणीय कर्म है। पदार्थों के मिलने की आशा हों, वे न मिल सके तो अंतराय कर्म होता है। आत्मा का गुण कर्म नहीं है। कर्म आत्मा के लिए आवरण तथा गुणों का विघातक है। आत्मा में अनंत सामर्थ्य है। उसका विघातक, विरोध कर्म तब बनता है, जब आत्मा के साथ शरीर हो। कहा भी है -

**शुद्धतम आत्मा अनन्त शक्तिमंत है, आत्मा से जुड़े वही श्रीमन्त है ।
आत्मा की अवहेलना उचित नहीं, आत्मा में स्थित रहे वह जीवन्त है ॥**

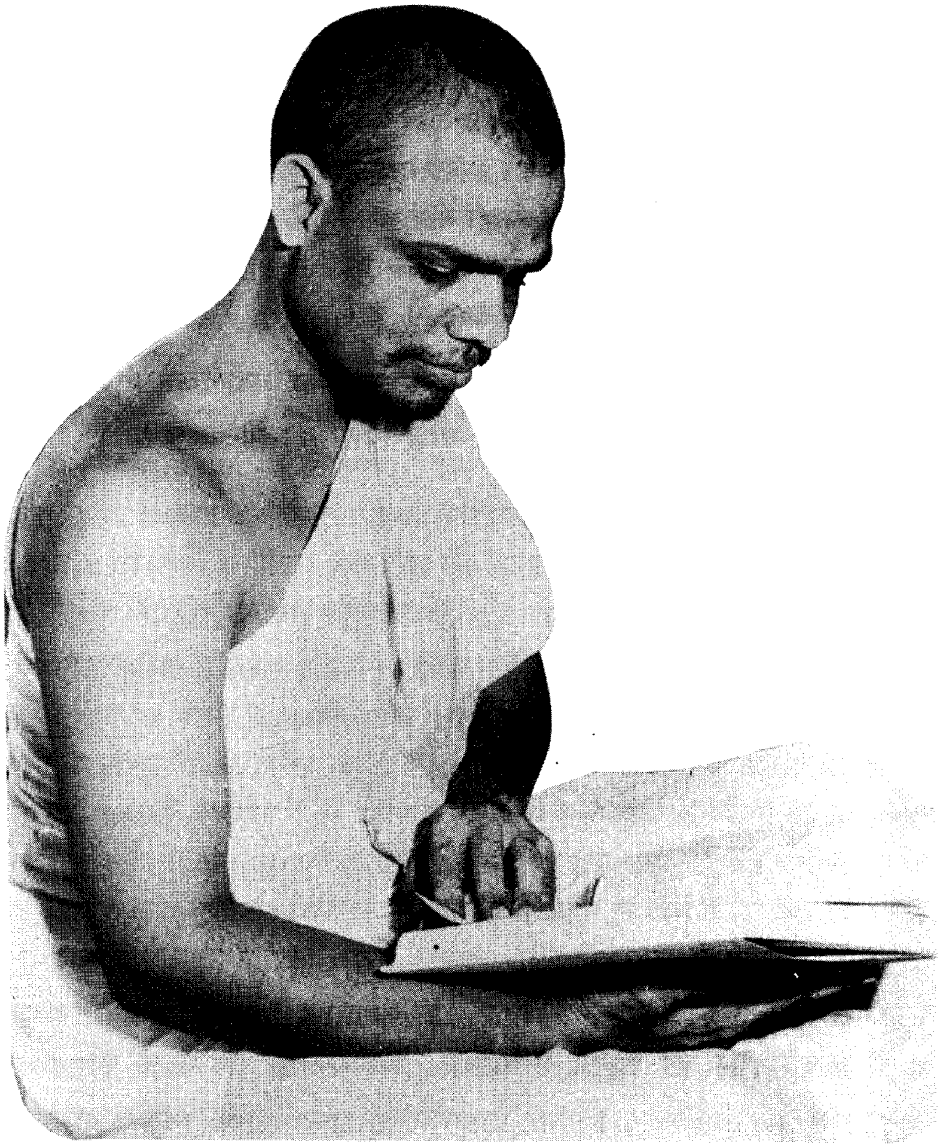
आत्मा सहनन तथा साधना से विशिष्टता पाती है। अंतराय कर्म के क्षय हो

जाने से ही तो आत्मा की समग्र शक्तियाँ प्रकट होती है । साधना से आत्मा की शक्ति में अपूर्वता आती है । कर्मों का आत्यंतिक नाश हो तो आत्मा पुनः कर्म फल से लिप्त नहीं होती । कर्मों का आत्मा से हटना ही आत्मा का मोक्ष है । आत्मा अपने मूल ज्योतिर्मय चित्त स्वरूप में पूर्ण प्रकाशित हो जाती है । इसीका नाम मोक्ष है । मोक्ष में आत्मा के सभी निजगुण शुद्ध एवं पूर्णविकसित रूप में विद्यमान रहते हैं । श्रेयस की साधना ही धर्म है । यही साधना पराकाष्ठा बनती है तो आत्मा की सिद्धि हो जाती है । मन, इन्द्रियों से ही नहीं, आत्मा के जुड़ाव से शाश्वत सुखों की संप्राप्ति होती है, इस दिशा में किया गया पुरुषार्थ ही सच्चा पुरुषार्थ है और यही पुरुषार्थ अनिवार्य रूप से किया जाना आवश्यक है ।

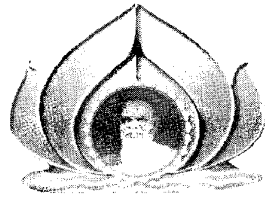
**आज अतल अन्तर में उतरो, करो स्वयं का अवलोकन ।
जीवन की सरिता को दे दो, मोक्ष दिशा का दिग्दर्शन ॥**



अध्यात्म का स्रोत मन इन्द्रियाँ नहीं : आत्मा है - 147



२_ आध्यात्मिक उन्नयन में सहायक तथ्य



21 — आध्यात्मिक उन्नयन में सहायक तथ्य

आध्यात्मिक उन्नयन ही सच्चा उन्नयन है। भौतिक उन्नयन व्यक्ति इस संसार में कितना ही क्यों न कर लें इसमें प्रशान्ति की अनुभूति एवं प्राप्ति असंभव है। जिसके जीवन में आध्यात्मिक उत्कर्ष हुआ है, वही सुखी है। प्रश्न स्वाभाविक है कि हम आध्यात्मिक विकास को किस प्रकार संपादित करें? इसके लिए जो सहयोगी तथ्य है, उन्हें सम्यक् प्रकार से समझ लेना चाहिए। सम्यक् समझ के बाद व्यक्ति की गति समुचित दिशा में सहज रूप से होने लगती है। आध्यात्मिक विकास में सहयोगी तथ्यों के सम्बन्ध में भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मय ने गहराई के साथ चिंतन किया है। प्रस्तुत लेखन में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपने योग विषयक ग्रन्थों आध्यात्मिक विकास से संबंधित जिन सहयोगी तथ्यों पर प्रकाश डाला है, उन पर हम संक्षिप्त में विचार चिंतन करेंगे।

योग बिन्दु ग्रन्थ में अध्यात्म विकास क्रम का योग रूप से वर्णन है। जो क्रिया, मोक्ष से संबंध करती है, जोड़ती है, उसे प्राप्त कराती है, वह योग कहलाती है। वह योग क्रिया पांच प्रकार की है इसे क्रमशः इस प्रकार जाना जा सकता है -

१. अध्यात्म, २. भावना, ३. ध्यान,
४. समता, ५. वृत्ति संक्षय।

अपनी क्षमता, अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रत अथवा महाव्रतों को स्वीकार कर मैत्री आदि भावनाओं से संपृक्त तत्त्वार्थ का चिंतन अध्यात्म है। अध्यात्म शब्द यौगिक एवं रूप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यौगिक रूप में आत्मा का उद्देश्य पंचाचार अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य में होता है। रूढार्थ में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ भावनाओं में मन का अभ्यर्षित होना है। अध्यात्म में आत्मस्थिति का अशुभ से शुभ में आना है। यथार्थ बोध से गुणों का विकास, बहिरात्मा भाव है। सर्वथा शुद्ध भाव परमात्म-भाव है। भावना वह चिंतन है, जिसमें बहिरात्मा भाव को त्याग कर आत्मा आगे बढ़ती है। अध्यात्म का एकाग्रतापूर्वक पुनरावर्तन ही भावना है। उल्लेखनीय है कि भावना दो प्रकार की हैं -

- बारह भावनाएं जो संसार की वास्तविकता बतलाती हैं।
- चार भावनाएं जीवन पथ में मार्गदर्शक होती हैं।

बारह भावनाएं क्रमशः अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोकस्वभाव, बोधि दुर्लभ एवं धर्म भावना के रूप में विश्रुत है। इसी तरह मैत्री प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ भावना आत्मविकास, आध्यात्मिक उन्नयन में साधक एवं पथ-प्रदर्शक है।

चित्त की सूक्ष्म चिंतन अवस्था ध्यान है जागृति एवं प्रमाद का जनक ध्यान ही है। शुभ ध्यान जागृति का आधार है, जबकि अशुभ ध्यान प्रमाद का कारण है। ध्यान एक तरह से ऊर्जा का सतत प्रवाही स्रोत है। वह व्यावहारिक जीवन को स्वस्थ एवं संतुलित बनाता है वही सामाजिक जीवन को प्रगतिशील तथा आध्यात्मिक जीवन को शुद्ध बुद्ध एवं वीतरागतुल्य बनाता है। आत्मा का आत्मा में लीन होना ध्यान है। आचार्य भद्रबाहु के शब्दों में चित्त की एकाग्रता ध्यान है। आगमों में ध्यान के चार भेद बताये हैं -

(१) अट्टे ज्ञाणे, (२) रोदे ज्ञाणे, (३) धम्म ज्ञाणे, (४) सुक्के ज्ञाणे।

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यान का अर्थ है -

आध्यात्मिक उन्नयन में सहायक तथ्य - 151

पीड़ा सम्बन्धी चिंतन । इसके चार रूप है -

- इष्ट वस्तु के संयोग की चिंता ।
- अनिष्ट वस्तु के वियोग की चिंता ।
- रोग आदि उत्पन्न होने पर उनको दूर करने की चिंता ।
- प्राप्त भोगों में वियोग की चिंता ।

आर्तध्यान दीनता प्रधान होता है, इसमें करुण भाव अधिक रहता है, मन दुःखी, संतप्त एवं उद्विग्न होता है । इसे पहचानने के चार लक्षण है - आक्रंदन, दीनता, आंसू बहाना और बार-बार क्लेश युक्त भाषा बोलना । इस ध्यान का ध्याता अध्यात्म का आराधक नहीं हो सकता, कारण वह निरंतर अपध्यान में लगा रहता है ।

रौद्रध्यान, बीभत्सता का प्रतीक है । रूद्र का अर्थ है- क्रूर, बीभत्स । इस ध्यान में मन की दशा बड़ी भयानक, क्रूरतापूर्ण होती है । मन बड़ा कठोर और निर्दय हो जाता है । रौद्रध्यान चार प्रकार के है -

- हिंसा सम्बन्धी निरंतर चिंतन ।
- असत्य सम्बन्धी निरंतर चिंतन ।
- चौर्य सम्बन्धी निरंतर चिंतन ।
- धन आदि के संरक्षण सम्बन्धी निरंतर चिंतन ।

इन दो ध्यानों के बाद जिस ध्यान का नाम आता है वह धर्मध्यान है । धर्मध्यान में आत्मा शुभ चिंतन में लीन होता है, इससे मन की गति ऊर्ध्वमुखी बनती है, उसमें निर्मलता और विशुद्धता आती है, क्रमशः धर्मध्यान का चिंतन आत्मा के अनंत रूपों का उद्घाटन करने लगता है और उसकी सुषुप्त शक्तियाँ जागृत होती है ।

विषय की दृष्टि से धर्मध्यान के भी चार प्रकार है -

- आज्ञा विचय - भगवदाज्ञा विषय में चिंतन
- अपाय विचय - रागद्वेष आदि के अशुभ परिणामों पर चिंतन ।

152 – अध्यात्म के झरोखे से

- विपाक विचय - कर्मफल के संबंध में चिंतन ।
- संस्थान विचय - लोक के संबंध में चिंतन ।

धर्मध्यान में चिंतन प्रवाह आत्ममुखी रहता है, इसलिए इन सब विषयों पर चिंतन करता हुआ साधक उनसे वैराग्य एवं निर्वेद की भावना ग्रहण करता है । धर्मध्यान वैराग्यप्रधान चिंतन है, जबकि शुक्लध्यान आत्मावलंबी अधिक स्थिर चिंतन है । धर्मध्यान के चार लक्ष्य, चार आलंबन और चार अनुप्रेक्षाएं हैं । विस्तृत जानकारी के लिए भगवती सूत्र, स्थानांग सूत्र एवं उववाई सूत्र आदि को देखना चाहिए ।

शुक्लध्यान वह है, जिसकी साधना में मन की दशा, परम उज्ज्वल एवं विशुद्ध बन जाती है । शुक्लध्यान उसी भव में मोक्षगामी आत्मा कर सकता है । इसके चार भेद हैं - जिनमें प्रथम भेदों में एक द्रव्य, द्रव्य परिणाम आदि को आलंबन बनाकर ध्यान किया जाता है । तीसरी अवस्था में मन, वचन के व्यापार का निरोध हो जाता है, काया के स्थूल व्यापार भी रूक जाते हैं । चौथी अवस्था संपूर्ण निरोध अवस्था है । उसमें सब योगों की सूक्ष्मतम चंचलता का भी निरोध हो जाता है और परम स्थिर अवस्था में आत्मा लीन हो जाता है । शुक्लध्यान के चार लक्षण, चार आलंबन और चार भावनाएं हैं ।

आध्यात्मिक विकास-प्रक्रिया में ध्यान की प्रक्रिया सर्वोत्तम साधन है । प्रशस्त ध्यान की ही उपयोगिता है । अप्रशस्त ध्यान अवरोधक है ।

इष्ट-अनिष्ट परिणामों के प्रति तटस्थता समझता है । क्योंकि इसके द्वारा भी प्राणियों के प्रति समानरूप से प्रेम होता है । समत्व मूलक जीवनचर्या का महत्त्व निर्विवाद है । समता भाव बढ़ता है, उतना ही सुख बढ़ता है । मन के मंदिर में समता का दीप सतत प्रज्वलित रहे, वह विषमता की हवाओं से बुझने नहीं पाए, इसके लिए जागरूकता जरूरी है । विषमता विनाश है, समता विकास है । विषमता मृत्यु है, समता जीवन है । मन की मुंडेर पर समता का दीप यदि प्रज्वलित हो जाए तो अंतर के आंगन में फैला हुआ अंधकार सहज समाप्त हो जाता है ।

साधु हो अथवा श्रावक उसकी साधना समता भाव के अभाव में अधूरी रहती है। सम्यग्दर्शन के लक्षणों में समता को 'सम' के रूप में प्रथम स्थान संप्राप्त है। समता के चार प्रकार हैं-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। प्रत्येक स्तर पर समता की आवश्यकता रहती है। आध्यात्मिक विकास-क्रम में समता चरम-सीमा मानी गई है।

मन एवं शरीर से उत्पन्न चित्तवृत्तियों को जड़ से नष्ट करना वृत्ति संक्षय है। ध्यान और समता, वृत्तिसंक्षय का कारण है। अन्य उसके सहयोगी है।

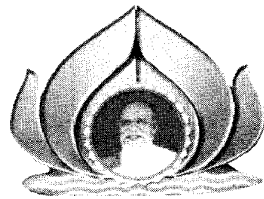
योग शतक में प्राचीन परंपरा के क्रम से आध्यात्मिक विकास क्रम विवेचन, अपुनर्बन्धक अवस्था से सम्यग् दृष्टि, देश विरति एवं सर्वविरति आदि से लेकर पूर्णत्व तक आया है। अपुनर्बन्धक अवस्था वह कहलाती है - "जो कर्मयोगी मन की परिणति को अशुभ अध्यवसाय से हीन रखते हुए पारिवारिक कर्तव्य को सम्पन्न करता है। अध्यवसाय शुभ होने से आत्मरमणता आती है। यहाँ साधक मिथ्या स्वपरिणामी होते हुए भी विनय, दाक्षिण्य दया, वैराग्य आदि सद्गुणों के विकास में उद्यमशील रहता है।

सम्यग् दृष्टि वह स्थिति है जिसमें भौतिक कार्यों से व्यामोहित होते हुए भी साधक मोक्षाभिमुख होता है। इसे भाव योगी भी कहते हैं। देशविरति साधक आचार विचारों से संचालित, विकसित होकर व्रत विधियों का सम्यक् प्रकार से पालन करता हुआ आगे बढ़ता है। सर्व विरति की भूमिका से आगे सर्व ज्ञत्व तक साधक पहुँच जाता है। प्रशस्त भावों का उत्कर्ष होता है। आध्यात्मिक विकास में सविशेषबोध की प्राप्ति के लिए आचार्यों ने अलग-अलग प्रतिपादन किया है।

स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ कि अध्यात्म से संबंध में न केवल जैन दर्शन अपितु संपूर्ण भारतीय दर्शन बल देता है। इसे यूँ कहे तो अधिक उपयुक्त होगा कि भारत में दर्शनशास्त्र मूलतः स्वयं में आध्यात्मिक है। चित्तशुद्धि को सभी ने आवश्यक माना है। आध्यात्मिक विकास में चित्तशुद्धि की गुरुत्वपूर्ण भूमिका है। विकासक्रम की परिसमाप्ति के बीच कुछ नियत अवस्थाएँ हैं। उन अवस्थाओं को वैदिक ऋषियों ने 'भूमिका' बौद्धों ने इसे 'अवस्था' आदि जैनों ने 'गुणस्थान' की संज्ञा दी है।



22— आध्यात्मिक विकास क्रम के चौदह सोपान



22 — आध्यात्मिक विकास क्रम के चौदह सोपान

आध्यात्मिक विकास क्रम में गुण स्थान-चेतना के गुणों का विकास, जिसकी क्रमबद्ध स्वरूप चर्चा जैन दर्शन के अंतर्गत मिलती है। यह एक तार्किक व्यवस्था है। शुद्धिकरण का क्रम है। बंध हेतु पांच हैं - मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद एवं योग। प्रथम गुणस्थान में बंध हेतुओं का अस्तित्व है। दूसरे से पांचवें गुणस्थान में मिथ्यात्वबंध हेतु की अनुपस्थिति तथा शेष चार, अव्रत, कषाय, प्रमाद एवं योग का अस्तित्व रहता है। छठे से, दसवें गुणस्थान में कषाय एवं योग दो बंध हेतुओं की उपस्थिति रहती है। ग्यारहवें, बारहवें एवं तेरहवें गुणस्थान में केवल-योग रहता है। चौदहवां गुणस्थानबंध हेतुओं के सर्वथा क्षय से ही उपलब्ध होता है। आध्यात्मिक विकास क्रम की चौदह भूमिकाओं का संग्राहक गुणस्थान है।

आध्यात्मिक विकास चर्चा चेतना से संबंधित है। अतः चेतना के विशुद्ध स्वरूप के आधार पर आध्यात्मिक साधना में अनुरक्त साधक के कुछ श्रेणियों, अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। जैसे सुलभबोधि, मार्गानुसारी, सम्यग्दृष्टि श्रमणोपासक, संयम आदि। आत्मा ही परमात्मा बनती है। परमात्मा की विशिष्ट रूप में कोई पृथक सत्ता नहीं है।

आत्मा निखर कर ही जब अपने स्वरूप में पहुंच जाती है तो वह परमात्मा कहलाती है। तब फिर इस परमात्मा का संसार से कोई संबंध नहीं रह जाता, सदा के लिए वह संसार से मुक्त हो जाता है। जितनी भी आत्माएं सिद्ध शिला पर मिलती हैं, वे ज्योति में ज्योति के समान एकाकार हैं।

इसे ही आत्म विकास, आध्यात्मिक विकास का सोपान माना गया है, जिस तक पहुंचने के लिए कई सोपान पार करने पड़ते हैं। आत्म परिष्कार की उत्कृष्टता के साथ गतिक्रम आरोह की ओर बढ़ता है। किस समय आत्मशुद्धि का क्या स्तर है, उसकी कसौटी गुणस्थान के रूप में निर्धारित है।

मूल स्वरूप में संसारी एवं सिद्ध आत्माओं में कोई अंतर नहीं है, जो अन्तर है, वह दोनों के वर्तमान स्वरूप में है। वह कर्मों की श्लिष्टता या संपृक्ति का है। जैन दर्शन के कर्म सिद्धान्त का निचोड़ यह है कि आत्मा का अजीव तत्त्व के साथ संयोग तथा उसका संसार में परिभ्रमण कर्म संलग्नता के कारण होता है। शरीर के साथ संबंध होने के बाद आत्मा की जिस रूप में शुभ अथवा अशुभ परिणति होती है, तदनुसार उसके शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बंध होता है। इस तरह बंधे हुए कर्म भोगने पड़ते हैं तथा निरंतर सक्रियता के कारण नये कर्म भी बंधते रहते हैं। इस कर्मबंध को जहां एक ओर संयति जीवन से संवरित किया जा सकता है, वही दूसरी ओर निर्जरा के रूप में उनका उपशम एवं क्षय भी संभव है। जब संपूर्ण कर्मों का क्षय कर लिया जाता है, तब आत्मा को मोक्ष की उपलब्धि होती है। इस मोक्ष को हम कर्ममुक्ति पर आत्म-विकास का, आत्मोत्थान का सर्वोच्च सोपान कहते हैं, जो आत्मा को परमात्मा बनाता है।

इस दृष्टि से वर्तमान आत्मस्थिति सांसारिकता है। अन्य शब्दों में - कर्म संलीनता, उसकी इस हेतु विकास दिशा यही है कि वह कर्म-मुक्ति की ओर पग उठाए और समग्र कर्म मुक्ति पर्यन्त सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की आराधना में निमग्न रहे।

जब तक कर्मबंध का क्रम चालू रहेगा, तब तक आत्मा संसारी आत्मा रहेगी एवं समग्र कर्म मुक्ति के बाद वह सिद्ध बन जायेगी। अतः आत्मविकास

आध्यात्मिक विकास क्रम के चौदह सोपान - 157

आध्यात्मिक अम्युदय के रूप में जो पुरुषार्थ करना है, जो पराक्रम दिखाना है, उसका अर्थ कर्म मुक्ति की दिशा में ही कर्मठ और पराक्रमी बनना है। इस विकास पथ का एक छोर कर्मबंध का है और दूसरा अंतिम छोर कर्म मुक्ति।

आत्मा के मूल स्वरूप एवं कर्मबंध तथा कर्म मुक्ति के दोनों छोरों को भली भांति समझने के लिए आइये एक दृष्टान्त का आश्रय लें - “एक नया दर्पण है - बहुत स्वच्छ है. इसमें देखें तो आकृति एकदम हूबहू दिखाई देगी। फिर वह उपयोग में आने लगता है, उस पर धूल मिट्टी या चिकनाहट जमने लगती है। कभी बंद मकान में पड़ा रहता है और धूल मिट्टी की इतनी पर्तें जम जाती है कि उसमें प्रतिच्छाया तक दिखना बंद हो जाती है। इस तरह वह दर्पण अपने अर्थ में दर्पण ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार आत्मा अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण कर रही है। इसके स्वरूप पर उस दर्पण की तरह कर्मों का मैल लगता जा रहा है। अज्ञान एवं विकार की दशा में इस गर्त की पर्तें मोटी से मोटी चढ़ती जाती है और वे क्रमशः इतनी मोटी हो सकती है कि आत्मा के गुणों की ओर, उसकी शक्तियों की झलक तक दिखना बंद हो जाती है। आत्मा की इस स्थिति को हम उसकी पतितावस्था कह सकते हैं। किन्तु इस दृश्यहीन दर्पण को भी हम स्वभाव हीन नहीं मान सकते, क्योंकि उसका दृश्यत्व नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि वह दब गया है। यदि पूरे मनोयोग और परिश्रम से उसे साफ करने का यत्न किया जाय तो वह फिर से यथापूर्वक साफ हो सकता है। सही ज्ञान, सही आस्था, एवं सही आचरण की सहायता से इस संसारी आत्मा पर लगे कर्म मैल को धोने का कठिन प्रयास भी किया जाये तो भावना एवं साधना की उत्कृष्टता से आत्मा को उनके मूल स्वरूप में अवस्थित कर सकते हैं.... पूर्ण निर्मल, पूर्ण सशक्त। इसीके साथ इस तरह कर्म मुक्ति के अंतिम छोर की उपलब्धि हो जाती है।

जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त मनुष्य को ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व अथवा भाग्यवाद के भ्रम से मुक्त करता है और उसे अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होने का विश्वास दिलाता है। हम आज जो कुछ भुगत रहे हैं, अच्छा या बुरा निःसंदेह उसकी जड़े भूतकाल में

है जिन्हें हमने कभी रोपा है। अर्थ स्पष्ट है कि मनुष्य या कोई भी प्राणी स्वयं अपने भाग्य का निर्माता तथा अपने कर्म योग के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है। जैसा कर्म वैसा फल, यह है - कर्मवाद. पाप कर्म आत्मा को डूबोता है, पुण्य इसे तिराता है। किन्तु पुण्य-कर्म को भी नाव के समान छोड़ने पर ही दूसरे किनारें पर पांव रखा जा सकता है। सभी प्रकार के कर्म क्षय के बाद ही मोक्ष का दूसरा तट हाथ लगता है।

संसार के इस महोदधि में कौन-सी आत्मा कितनी डूबी हुई है या कौन-सी किस ओर तैर रही है अथवा कौन-सी कब किनारें लग जाएगी ? इसकी जो मापक दृष्टि है, वही गुणस्थान दृष्टि है। आत्मा का गुण है... उसका मूल स्वरूप। इसकी संपूर्ण उपलब्धि की दृष्टि से आत्मा के विकास सोपान का निर्णय गुण की दृष्टि से ही संभव होता है।

मोह और योग के निमित्त से सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र्य रूप आत्मा के गुणों की तारतम्यता, हीनाधिकतारूप अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते हैं। अन्य शब्दों में - मोह, मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के कारण जीवन के अंतरंग परिणामों में प्रतिक्षण जो उतार चढ़ाव रहता है उसे गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान के इस रूप में चौदह सोपान कहे गए हैं -

- | | |
|--------------------------------|-----------------------------|
| १. मिथ्यात्व गुणस्थान | ८. निवृत्तिबादर गुणस्थान |
| २. सास्वादान गुणस्थान | ९. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान |
| ३. मिश्र गुणस्थान | १०. सूक्ष्म संपराय गुणस्थान |
| ४. अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान | ११. उपशांत मोह गुणस्थान |
| ५. देश विरत श्रावक गुणस्थान | १२. क्षीण मोह गुणस्थान |
| ६. प्रमत संयत गुणस्थान | १३. सयोगी केवली गुणस्थान |
| ७. अप्रमत संयत गुणस्थान | १४. अयोगी केवली गुणस्थान। |

आत्मा का मूल स्वरूप शुद्ध चेतनामय, शक्तिसंपन्न तथा आनंदपूर्ण होता है। कर्मों के आवरण दर्पण की धूलिपतों की भांति उस स्वरूप को ढंक देता है। इन आठ-कर्मों के आवरणों में सबसे सघन आवरण होता है - मोहनीय कर्म का। इसे सब कर्मों का

राजा कहा गया है। मोह आत्मभावों में जबतक बलवान रहता है, दूसरे कर्मों के आवरण भी कठिन बने रहते हैं और यदि इस मोह-दुर्ग की प्राचीरें तोड़ी जा सकें तो अन्य कर्म सूखे पत्तों की तरह स्वयं झड़ने लगते हैं।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं - १. आत्मा के दर्शन को अवरूद्ध बनाती है। उसके स्वरूपानुभव को कुण्ठित करती है। २. यदि स्वरूपानुभव कदाच कुण्ठित न हो पाये तो भी कर्म क्षय कराने वाली प्रवृत्तियों में जुटने नहीं देती। स्वरूप के यथार्थ दर्शन तथा उसमें स्थिति होने के प्रयास खुद करने वाली शक्तियाँ मोह कर्म की होती हैं। इन्हें दर्शनमोह एवं चारित्र मोह की संज्ञा दी गई है। आत्मा की विभिन्न स्वरूप स्थितियाँ इस मोहनीय के हिंडोले में झूलते हुए बनती हैं। आत्मा का पतन और उत्थान, पतन से उत्थान और उत्थान से पुनः पतन इसी हिंडोले में होता है। जो आत्मा इन गुणस्थानों की स्थिति को समझकर अपने मनोभावों में आवश्यक संतुलन एवं स्थिरता अर्जित कर लेती है। वह क्रमशः ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ती रहती है, आध्यात्मिक समृद्धि, परिपूर्णता मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

अविकसित तथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थान में होती है। इसमें मोह की दोनों शक्तियों का जोर बना रहता है और वे दृढ़ता से आत्म अवरूप को आच्छादित कर लेती हैं। इस अवस्था में आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति लगभग पतित सी होती है और कैसा भी आदि भौतिक उत्कर्ष होने पर भी उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से पूर्णतः शून्य ही बनी रहती है। ऐसी आत्मा की गति दिग्भ्रान्त होती है तथा वह विपरीत प्रवृत्ति में यात्रा करती रहती है। यही मिथ्या-दर्शन है। मिथ्यात्व नाम जड़ता का है, उस जड़ता का जिसमें मोह का प्रभाव प्रगाढ़तम होता है। जैसे ही अपनी विकास-यात्रा के आरंभ में आत्मा दर्शन मोह पर यथापेक्षित विजय प्राप्त करती है, वैसे ही प्रथम से तृतीय गुणस्थान में प्रवेश कर लेती है। इस समय पर स्वरूप में स्व-स्वरूप की जो भ्रान्ति होती है, वह दूर हो जाती है और तीसरे गुणस्थान के प्रभाव से विपरीत प्रवृत्ति भी विकासोन्मुख बनने लगती है। तीसरा गुणस्थान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्ररूप होता है। कभी दर्शनमोह मन्द पड़ जाता है, कभी वह फिर

सशक्त हो उठता है -

**तन धोए से क्या होता है, जब तक मन न धुले ।
सब कुछ बदले इक पल भर में, जब अन्तर बदले !!**

अध्यात्म दरअसल अंतःकरण का बदलाव है । बाहर से अंतर की ओर प्रवेश है । भोग से हटकर योग से जुड़ाव है । राग के स्थान पर त्याग की स्थापना है, देह की नहीं अपितु, आत्मा की उपासना है । यही सार्थक दृष्टिकोण है । अन्यथा अंतरशुद्धि मनःशुद्धि अथवा भीतर के परिष्कार को नकार कितनी ही क्रियाएं कर ली जाए, वे पूर्णता निष्प्राण है । एक प्रसिद्ध श्लोक है -

**भ्रमन सर्वेषु तीर्थेषु, स्नात्वा, स्नात्वा पुनः पुनः ।
मनो न निर्मलं यावत्, तावत् सर्व निरर्थकम् ॥**

इसे हम यों भी कह सकते हैं -

**तीर्थ, तपस्या, दान, जप, ज्ञान और प्रभुनाम !
दे सकते ये काम क्या, जब तक चित्त हराम !!**

मन को विग्रहों से बचाना, प्रत्येक मानव का दायित्व है और यह संभव है मनोनिग्रह से । यह ठीक है कि मन बड़ा वाचाल है, उस पर अंकुश रहना बड़ा ही दुष्कर कार्य है, पर अभ्यास से दुष्कर भी सरल रूप में परिवर्तित हो जाता है ।

चैतन्य मन ही उज्ज्वलता ग्रहण करता है । प्रकाश भी देता है । मन की, अंतर की चैतन्यता मन के निग्रह, मन की शुद्धि से ही उपजती है । वैरागी मन किसी विग्रह में नहीं फंसता । रागमय मन अनेक अपेक्षाओं से जुड़ा रहा है और उन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए वह विग्रहों की रचना करता है । अनेकानेक कल्पनाएं संभावनाएं मन को निरंतर उलझाए रखती हैं । वह ऊहापोहो में उलझ जाता है । सिर्फ चैतन्य ही उसे उनसे छुटकारा दिला सकता है । तीसरे गुणस्थान में यह धूप-छाँव चलती है ।

जब परमात्मा स्वरूप को आत्मा देखने और समझने लगती है तो वह चौथे सम्यक् दृष्टि गुणस्थान में बैठती है । यहां उसकी दृष्टि में सम्यक् दृढ़ बनता है,

आध्यात्मिक विकास क्रम के चौदह सोपान - 161

किन्तु वातावरण की प्रवृत्ति बदलती नहीं है-अविरति स्थिति बनी रहती है । चौथे गुणस्थान से आगे के समस्त गुणस्थानों की दृष्टि सम्यक् मानी जाती है । कारण आगे के गुणस्थानों में उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास, दृष्टि शुद्धि और व्रतों की क्रियाशीलता के फल स्वरूप परिपुष्टि बनती चलती है ।

मोह की प्रधान शक्ति दर्शन मोह के मंद होने से चारित्र मोह के शिथिल होने से पांचवें गुणस्थान की अवस्था प्रारंभ होती है । आत्मा अविरति स्थिति से देशविरति की स्थिति में प्रस्थान करती है । यहां मोह की शक्तियों के विरुद्ध एक उत्क्रांति घटित हो जाती है ।

देश विरति से आत्मा को अपने भीतर स्फूर्ति एवं शान्ति की सच्ची अनुभूति होती है । यहां इस अनुभूति को विस्तृत, विशद बनाना चाहती है और सर्व विरति के छठे गुणस्थान के सोपान पर पग रख देती है । यह सीढ़ी जड़ भावों के सर्वथा परिहार की सीढ़ी होती है. इस अवस्था में पौद्गलिक भावों पर गहरी निष्ठा उत्पन्न हो जाती है । फिर भी इस सोपान पर प्रमाद का कमोबेश प्रभाव बना रहता है ।

प्रमाद पर विजय पाने का सातवां गुणस्थान होता है - अप्रमादी साधु का । विशिष्ट आत्मिक शान्ति की अनुभूति के साथ विकासोन्मुखी आत्मा प्रमाद से जूझने में जुट जाती है. इस अद्वितीय संघर्ष में आत्मा का गुणस्थान कभी छठे और कभी सातवें में ऊंचा-नीचा होता रहता है । विकासोन्मुख आत्मा जब अपने विशिष्ट चरित्र बल को प्रकट करती है तथा प्रमाद को सर्वथा पराभूत कर लेती है तब वह आठवें गुणस्थान की भूमिका में पहुंच जाती है । पहले कभी नहीं हुई ऐसी आत्मशुद्धि इस निवृत्ति बादर गुण स्थान में होती है । आत्मा मोह के संस्कारों को अपनी संयमसाधना एवं भावना के बल से दबाती है और अपने पुरुषार्थ को प्रकट करती हुई उन्हें बिल्कुल उपशान्ति कर देती है । दूसरी आत्मा ऐसी भी होती है, जो मोह के संस्कारों को सर्वथा निर्मूल कर देती है । इस प्रकार इस गुण स्थान में आत्म शक्ति की स्वरूप स्थिति दो श्रेणियों में विभाजित हो जाती है । आत्म शक्तियों की ऊंची-नीची गति इन्हीं दो श्रेणियों का परिणाम होता है । मोह के संस्कारों को

उपशान्ति करनेवाली आत्मा कभी कभी इस गुणस्थान से तल तक पतित हो जाती है। जैसे अंगारे राख से ढंके हुए हो और हवा के एक तेज झोंके से सारी राख उड़ जाती है और अंगारें धक-धक करने लगते हैं। पहली श्रेणी में ऐसी दुर्दशा संभव हो सकती है, किन्तु दूसरी श्रेणी में प्रविष्ट आत्मा को ऐसे किसी अधःपतन की आशंका नहीं रहती।

चाहे पहली श्रेणी वाली आत्मा हो या दूसरी, वह अपनी उत्कृष्टता से एक बार नवा, दसवा, गुण स्थान प्राप्त करती ही है। फिर ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाली आत्मा एक बार अवश्य पतित हो जाती है। दूसरी श्रेणी की आत्मा मोह को निर्मूल बनाकर सीधे दसवें से बारहवें गुणस्थान में प्रवेश कर जाती है।

जैसे ग्यारहवा गुणस्थान पुनरावृत्ति का है, वैसे ही बारहवा गुणस्थान अपुनरावृत्ति का है। ग्यारहवें गुणस्थान में प्रवेश करनेवाली आत्मा का अधःपतन होता है जबकि उसको लांघकर बारहवें गुण स्थान में प्रवेश कर पाने वाली आत्मा का परम उत्कर्ष असंदिग्ध हो जाता है।

उपशम श्रेणी में पतन की आशंका रहती है तो क्षपक श्रेणी में उत्थान का अपरिमित विकास ! इस दृष्टि से मोह का सर्वथा क्षय सर्वोच्च आत्मविकास का पट्टा होता है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों की भेद रेखा अति सूक्ष्म है, जिसे पार कर लेने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेती है। परमात्म स्वरूप बन जाती है।

मोहनीय भावों में आत्मा जबतक पूर्णतया संलीन डूबी रहती है तब तक वह मिथ्यात्व के अंधकार में भटकती रहती है और उसकी स्थिति पहले गुणस्थान में होती है। इस अवस्था में जब कभी किसी कारणवश दर्शन के भावों में कुछ शिथिलता आती है तो आत्मा की विचारणा जड़ से चेतन की ओर मुड़ती है। चेतना की ओर मुड़ने का अर्थ है - पर स्वरूप से हटकर स्वस्वरूप की ओर दृष्टि का फैलाव। आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर गति प्रगति। चेतनतत्त्व अर्थात् निजस्वरूप की ओर दृष्टि ! इस दृष्टि से उसे एक अभिनव रसास्वादान की आंतरिक अनुभूति होती है। जिससे मिथ्यात्व की ग्रंथि खटकने लगती है। इस समय आत्मा क्षे

रणभूमि बन जाता है। एक ओर मोह के संस्कार उनसे उभरने की निष्ठा बनाने वाली आत्मशक्ति पर आक्रमण प्रत्याक्रमण करते हैं तो दूसरी ओर जागरूकता की ओर बढ़नेवाली आत्मशक्तियां उन आक्रमण प्रत्याक्रमणों को झेलती है।

इस युद्ध में आत्म-शक्तियां यदि विजयी होती है तो वे आत्मा को प्रथम गुणस्थान से तृतीय और चतुर्थ में पहुंचा देती है। किन्तु यदि मोह संस्कारों की प्रबलता बनी रहती है तो ऊपर की भूमिकाओं से लुढ़क कर वह पुनः मिथ्यादृष्टित्व की खाई में गिर जाती है। इस पतन में आत्मा की जो अवस्था रहती है, वह दूसरा गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में पहले की अपेक्षा आत्मशुद्धि अधिक होती हैं; लेकिन यह दूसरा गुणस्थान उत्क्रान्ति का स्थान नहीं होता। उत्क्रान्ति करनेवाली आत्मा तीसरे गुणस्थान में जा सकती है और अब क्रांति करनेवाली आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान में पहुंच सकती है। मोह भावों का अंतिम आक्रमण प्रत्याक्रमण नवें, दसवें गुणस्थानों की प्राप्ति के समय होता है। जहाँ समस्त मोह संस्कारों का संपूर्ण क्षय कर लेनेवाली आत्मा दसवें से बारहवें गुणस्थान में छलांग लगा जाती है और वहाँ से अपने चरम लक्ष्य की उपलब्धि असंदिग्ध कर लेती है। इसके विपरीत मोह संस्कारों का शमन मात्र करनेवाली आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान में प्रवेश करे ही यह आवश्यक नहीं है। वह भी अपनी उत्कृष्टता से बारहवें गुणस्थान में पहुंच सकती है, परंतु जो आत्मा एक बार ग्यारहवें गुणस्थान में चली जाती है, उसका पतन पुनः निश्चित रूप से होता है। दर्शन एवं चरित्र मोहनीय कर्म की प्रभावशीलता अथवा प्रभावहीनता के आधार पर ही आत्मा की अवक्रान्ति तथा उत्क्रान्ति निर्भर है।

सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र की एकाग्र साधना को मोक्ष मार्ग कहा है। कर्म मुक्ति है, मोक्ष है, कर्मों में सर्वाधिक शक्तिशाली मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिए अपने ज्ञान और अपनी निष्ठा को सम्यक्त्व की भूमिका पर लाने की जरूरत पड़ती है।

ज्ञान और आस्था के सम्यक् बन जाने पर सदृष्टि का विकास होता है। सदृष्टि वह है जो जड़ को जड़ और चेतन को चेतन तद्रूप स्पष्ट झलकाती है। इसके माध्यम

से आत्मा अपने मूल स्वरूप को पहचानकर आध्यात्मिक उन्नयन संपादित करती है, परमात्मस्वरूप का दर्शन करती है।

जैसे दर्शन मोह के मंद होने पर सदृष्टि का विकास होता है वैसे ही चारित्र मोह के मंद होने पर व्रत निष्ठा का जन्म एवं विकास होता है। दृष्टि सम्यक् होती है; तो सम्यक् चारित्र की आराधना का क्रम भी प्रखर बनता है। एक छोटे से व्रत को लेकर महान साधु व्रत का परिपालन करते हुए आत्मा जब रत्नत्रय की उपासना में सुस्थिर बन जाती है, तब वैसी विकासशील आत्मा मोह के संस्कारों को समूल क्षय करती है। उपशम की अपेक्षा क्षय की दिशा में पग बढ़ना महत्वपूर्ण होता है। इसीलिए ऐसी आत्मा एक दिन अपना पूर्ण उद्यम कर लेती है, जिस परमात्मस्वरूप का वह दर्शन करती है, उसी परमात्मस्वरूप का वह वरण भी कर लेती है। तब आत्मा सदा सर्वदा के लिए अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाती है।

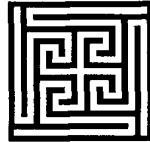
जो अपने आत्मशत्रुओं को नष्ट कर देते हैं, उसे “अरिहंत” कहते हैं। अरिहंत एवं सिद्ध-अवस्था, में शरीर-त्याग के सिवाय अधिक अंतर नहीं होता, किन्तु मिथ्यादृष्टि से लेकर आत्मा अपने ही विकास के साथ युद्ध करती अपनी-सद्भावना एवं निष्ठा के बल पर कर्म-शत्रुओं को नष्ट करती, इस आध्यात्मिक युद्ध में आत्मा क्रमशः विकास के सोपान स्वरूप इन गुणस्थानों पर चढ़ती रहती है।

संघर्ष को विकास का मूल कहा गया है। आध्यात्मिक संघर्ष में आत्मा की निर्मलता की अभिवृद्धि होती है। किसी भी मानसिक विकार की प्रतिद्वंद्विता में भी साधारण संघर्ष के समान तीन अवस्थाएं होती हैं। पहले कभी हार कर आत्मा पीछे गिरती है, दूसरी अवस्था में प्रतिस्पर्धा में डटी रहती है तथा तीसरी अवस्था में विजय को वरण करती है।

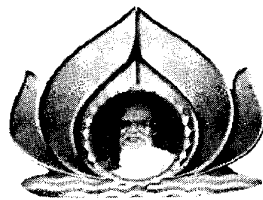
इस आध्यात्मिक युद्ध में कर्मों के आक्रमण-प्रत्याक्रमण आत्मशक्तियों को गंभीर चुनौती देते हैं। यद्यपि सतत जागरूकता के बावजूद कई बार कठिनाईयों से उसमें व्यग्रता और आकुलता भी उत्पन्न हो जाती है। यदि आत्मविश्वास और साहस के बल पर गुणस्थानों का एक-एक सोपान चढ़ती हुई वह रणभूमि में डट जाती है। भावना एवं

साधना की दृढ़ता तथा उत्कृष्टता तब तक आत्मा को गुणस्थानों की उच्चतर श्रेणियों में चढ़ाती रहती है, जिसके अंतिम परिणाम स्वरूप उस कर्म-शत्रुओं पर विजय की आनंदानुभूति होती है। वह अरिहंत बन जाती है आत्मा।

आत्म विकास की क्रमिक अवस्थाओं, गुणस्थानों को जो भलीभांति समझ लेता है, वही आध्यात्मिक समर के मर्म को समझता जाता है। आत्मिक शक्तियों में आविर्भाव की, उनके शुद्ध कार्यरूप में परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्थाएं ही गुणस्थान हैं। आत्मा की विकासयात्रा के सारे पड़ाव, अविकास से विकास की ओर चौदह गुणस्थानों में देखे जा सकते हैं तथा प्रतिपल गुण स्थान कौनसा है इसका मूल्यांकन किया जा सकता है। आत्मविकास के सोपान गुणस्थानों का यह सिद्धान्त इस दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है तथा जो सद्विवेक एवं सद्प्रवृत्ति के साथ नीचे से ऊपर के सोपानों पर अपने चरण बढ़ाते रहते हैं वे, अन्ततोगत्वा अपने जीवन के चरम लक्ष्य को अवश्य ही उपलब्ध कर लेते हैं।



23—अध्यात्म का प्राणतत्व : राजद्वेष एवं कषाय से मुक्ति



23
— अध्यात्म का प्राणतत्त्व : रागद्वेष एवं कषाय से मुक्ति

राग-द्वेष एवं कषाय का संग, साथ ही स्थिति में घातक है। शास्त्रों में इनको आंतरिक दोष - “अज्ज्ञत्थ दोसा” कहा गया है जिसका तात्पर्य स्पष्ट है कि इनकी जड़ हमारे मन में बहुत गहरी रहती है, वातावरण का रस पाकर विष-बेल की तरह निरंतर बढ़ती हुई ये व्यक्ति, परिवार समाज और राष्ट्र तक को आवृत कर लेती है और इनके दुष्परिणामों से कदम दर कदम दुःखों की अभिवृद्धि होती चली जाती है।

राग-द्वेष और कषाय की वृत्तियां यूं बीजरूप में प्रत्येक आत्मा में रहती हैं किन्तु जब ये प्रबल होती हैं तो व्यक्ति व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक प्रत्येक क्षेत्र में बुरी तरह से पिछड़ जाता है। अध्यात्म साधना के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रागद्वेष एवं कषाय से मुक्ति अथवा इनके अल्पीकरण का प्रयास किया जाए, यही प्रयास विकास प्रदान करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में इस आशय की एक महत्त्वपूर्ण गाथा है -

**रागो य दोसो वि य कम्मबीयं
कम्मं च मोहव्य भवं वयंति ।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाई मरणं वयंति ॥**

राग और द्वेष ये कर्मों के बीज हैं। कर्म स्नेह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म मरण

का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुतः दुःख है। राग को बोल-चाल की भाषा में लगाव और द्वेष को हम टकराव कहते हैं। लगाव और टकराव विभाव है और समभाव स्व भाव है। विभाव में दुःख है और स्वभाव में सुख है। विभाव में अध्यात्म का विकास नहीं होता। आध्यात्मिक के विकास के लिए राग और द्वेष को सर्वप्रथम चोट करना आवश्यक है।

सारी समस्याओं का मूल उद्गमस्थल राग और द्वेष है। क्रोध, मान, माया और लोभ का जन्म और इनकी अभिवृद्धि का कारण यही राग और द्वेष है। क्रोध, मान, माया और लोभ को 'कषाय' कहा गया है। कषाय जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। अथ की दृष्टि से इसे प्रकंपन, उत्ताप, आवेग और आवर्त कह सकते हैं। निश्चय नय की दृष्टि से चैतन्य के प्रशांत महासागर में विक्रोभ उत्पन्न होना कषाय है। कषायाकुल जीव पर पदार्थ की ओर आकर्षित होता है। विजातीय पदार्थों का बढ़ता आकर्षण, भेद विज्ञान, बोध को क्षीण करता है। जब भेद विज्ञान का बोध क्षीण होता है, तो आत्म-ज्योति मिथ्यात्व से आवृत होती है। क्रोधादि मनोदशाएं, जिसके तीव्रता एवं मंदता के आधार पर सोलह प्रकार एवं हास्यादि के नौ भेद होते हैं। कषायों से आत्म मलिनता बढ़ती है। 'मलिने मनसि व्रतशीलानि नावातिष्ठन्ते' अर्थात् मलिन चित्त के व्रत, शील नहीं ठहर सकते। 'कषत्याभानं हिनस्ति' कषाय आत्मा के सहज स्वरूप की हिंसा करती है।

मिथ्यात्व को अनंत संसार का हेतु है किन्तु मिथ्यात्व की ओर ले जानेवाली अनंतानुबंधी कषाय है, यह सबसे अधिक खतरनाक है। कषाय यह अशुभ मनोवृत्ति है। जिसमें समभाव का अभाव होता है। कषाय चार प्रकार के है - अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन। क्रोध, मान, माया एवं लोभ के चार चार भेद होने से कषाय के सोलह विभाग बनते हैं। इनके अतिरिक्त नौ कषाय - जिसे कषाय प्रेरक भी कहते हैं, उसके नौ भेद होते हैं - हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (घृणा), स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद।

अध्यात्म का प्राणतत्त्व : रागद्वेष एवं कषाय से मुक्ति - 169

यहाँ, यह आवश्यक रूप से समझ लेना चाहिए कि चार कषायों में माया और लोभ का उद्गम राग से है एवं क्रोध और मान की उत्पत्ति द्वेष से है। जहाँ कषाय है, वहाँ भव-भ्रमण है और जहाँ भव-भ्रमण है वहाँ दुःख ही दुःख है। प्रस्तुत संदर्भ में एक बात और चिंतनीय है कि अठारह प्रकार के जो पाप हैं उनका संपूर्ण संबंध राग और द्वेष से है। छः पाप राग से, छः पाप द्वेष से एवं छः राग और द्वेष से संयुक्त रूप से संबंधित है। मैथुन, परिग्रह, माया, लोभ, माया, मृषावाद और मिथ्यादर्शन शल्य राग से बढ़ते हैं, तो क्रोध, मान, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य और परपरिवाद द्वेष से अभिवृद्धि पाते हैं। इसी तरह प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान रति-अरति रागद्वेष से जुड़े हैं।

राग-द्वेष का त्याग ही सच्चा त्याग है। पदार्थों का त्याग सहज है, पर राग और द्वेष का त्याग दुष्कर है। जो यह त्याग कर लेते हैं वे अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य के रूप में परिवर्तित कर लेते हैं। वही अध्यात्म के आनंद से सराबोर बनते हैं। इस दृष्टि से किसी मनीषी आचार्य ने एक बार बड़ी महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति की -

रागद्वेषौ यदि स्मातां, तपसा किं प्रयोजनम् ?

रागद्वेषौ न च स्मातां, तपसा किं प्रयोजनम् !!

रागद्वेष यदि विद्यमान है तो फिर सुदीर्घ तपःसाधनाओं का क्या अर्थ है ? सबसे बड़ा तप रागद्वेष पर विजय है। यदि रागद्वेष नहीं है तो तप करने की आवश्यकता ही कहाँ है ? हम जो भी क्रियाएं करते हैं उनका मूल उद्देश्य रागद्वेष से निवृत्ति है। रागद्वेष से निवृत्ति ही विकृति से मुक्ति है। इसके लिए आंतरिक जागरूकता नितांत आवश्यक है। विषमता में जब तक भीतर में रूचि रस रहेगा, तब तक समता की अनुभूति, आध्यात्मिक उन्नति हो नहीं सकती। जैन साधना इसीलिए प्रारंभ से ही चित्त दर्शन और उससे उठनेवाली अनुकूल प्रतिकूल संवेदनाओं के प्रति समता का अभ्यास देती है। श्रावक हो चाहे श्रमण उसकी सामायिक का यही ध्येय है। भगवान महावीर ने कहा है -

समो य सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसु य ।

तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं ॥

जो समस्त चल अचल प्राणियों के प्रति समत्व में संस्थित है वही सामायिक व्रत की आराधना कर सकता है। जब तक हमारे मानस में किसी भी प्राणी के प्रति राग या द्वेष, क्रोध या घृणा, लगाव या टकराव अलगाव की अन्तःप्रतीति है, हम अध्यात्म साधना से बहुत दूर है। जब तक हम अपने दूसरों के वैषम्यमयी भेद सत्ता में खोये हैं अध्यात्म साधना का हम स्पर्श भी नहीं कर पाते।

सामायिक के अन्तर्गत हम एक निश्चित समय तक राग-द्वेष से मुक्त होकर बैठते हैं, इस अभ्यास का हम प्रयास करते हैं ताकि अंततः हमारा सारा जीवन इससे अनुप्राणित हो जाए। प्रतिपल हमारी चेतना समत्व में रमण करने लगे। किसी भी विषमातिविषम परिस्थिति हो, हम उस प्रवाह में अनुश्रोतगामी बनकर न बहे। हर परिस्थिति में समभाव में अर्थात् अपने स्वभाव में रहें। कोई कुछ भी कहे, हम अपने आपमें रहे। आवेग, उद्वेग और उत्तेजनाओं में नहीं, संवेग और समत्व में स्थित होने का प्रयास करें।

छोटी-छोटी बातों को लेकर हम किस तरह आवेश में आ जाते हैं, किस प्रकार हम विषमताएं खड़ी कर देते हैं। किस तरह हम कर्म-बंध के हेतुओं को मजबूत बना लेते हैं, पर यह नहीं सोच पाते कि इस जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या करना चाहिए और हम क्या कर रहे हैं? उस समय मन में गहरी पीड़ा की अनुभूति होती है कि धर्म का क्षेत्र जो रागद्वेष से निवृत्ति का क्षेत्र है उसे भी हम राग-द्वेष से ग्रस्त होकर विषम बना देते हैं। ऐसे में अध्यात्म साधना कैसे संभव है?

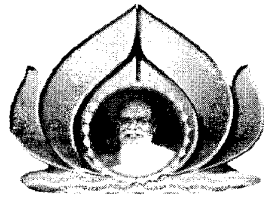
मन को राग और द्वेष की विकृतियों से मुक्त बनाए बिना अध्यात्म साधना हो ही नहीं सकती। तन को साधने वाले कई हैं, पर आवश्यकता इस बात की है कि मन को साधने का अभ्यास किया जाए। यह ठीक है कि रागद्वेष पर कषाय पर जय करना इतनी सरल बात नहीं है किन्तु असंभव भी नहीं है। कठिन अवश्य है, पर कठिन से कठिन कार्य भी निरंतर यदि अभ्यास किए जाएं तो सहज और सुगम हो जाया करते हैं।

अध्यात्म का प्राणतत्त्व : रागद्वेष एवं कषाय से मुक्ति - 171

प्रत्येक आत्मा में, अनंत क्षमताएं विद्यमान हैं। उन क्षमताओं को प्रथम बात यह है कि ठीक तरह से समझा जाए और समझने के बाद उनका समुचित दिशा में समुचित उपयोग किया जाए। हम दृढ़तापूर्वक विषमता से संबंध विच्छेद करके सतत समत्व में अर्थात् 'स्व' में अपने आपमें निवास करें - तदन्तर जो अनुभूतियाँ - जो प्रतीतियाँ होंगी वे निश्चित रूप से अनिर्वचनीय होंगी।



24—अध्यात्म का आधार : अन्तरशुद्धि



24 — अध्यात्म का आधार : अन्तरशुद्धि

आध्यात्मिक विकास के लिए जो सहायक तथ्य है, उनमें अन्तरशुद्धि का महत्त्व शुरू से रहा है। अन्तरशुद्धि को चित्तशुद्धि, मनशुद्धि के रूप में जाना जा सकता है। अन्तरशुद्धि को सभी ने आवश्यक माना है। मन यदि मैला है तो मैले मन को लेकर उस परम सत्ता से मेल स्थापित नहीं हो सकता। कहा जाता है -

**परमात्मा हम से दूर नहीं ।
पर मैला मन मंजूर नहीं ॥**

अन्तरशुद्धि का अभिप्राय मन का निग्रह अथवा मनोनुशासन है। मन पर निग्रह, मन पर शासन, मन पर जय अध्यात्म को पुष्टि देता है। यह सत्य है कि मानव के पास सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व जो मन है, उसका दुरुपयोग जीवन को अभिशापों से ग्रस्त करता है। आज जन-जीवन में जो विविध समस्याएं पारिलक्षित होती हैं, उनमें अधिकांश समस्याएं मन के अनियंत्रण से हैं। किसी ने बहुत सुन्दर लिखा है -

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।

स्पष्ट है जब व्यक्ति अपने आपको मन का गुलाम बना देता है तो वह हारता चला जाता है और ज्यों ही वह कुशल शासक की तरह मन के अश्व पर विवेकपूर्वक सवार होता है तो देखते ही

देखते मंजिल तक पहुंच जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के तेईसवें अध्ययन में केशी श्रमण एवं गणधर गौतम के बीच में इस बारे में जो सार्थक चर्चाएं हुई वे सचमुच अत्युपयोगी हैं। यह ठीक है कि मन चारों तरफ दौड़ने वाले साहसी दुष्ट अश्व के समान है पर जिसके हाथों में वैराग्य और विवेक की लगाम है, वह कभी भी भटक नहीं सकता। मेरे मानस मंच पर किसी कवि की कुछ पंक्तियाँ अनायास प्रस्तुत लेखन के क्षणों में उभर आई हैं -

विराग मन को आत्मा से, अध्यात्म से जोड़ता है। आत्मा में कोई कलुषता नहीं होती। वास्तव में आत्मा ही ऐसी माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने अस्तित्व को जान सकते हैं। आत्मा से जुड़ा हुआ व्यक्तित्व ही आदर्श स्थापित कर सकता है। आत्मा से जुड़े मन का विश्लेषण ही सर्वथा योग्य होता है। वही मन उज्ज्वल है जिसमें जिज्ञासा है और है जिज्ञासा के समाधान की ललक। विरक्त अवस्था में जिज्ञासा के समाधान खोजने के अधिक अवसर होते हैं। वही मन विवेकी है जो सहिष्णुता को स्वीकार करता है और एक विरागी व्यक्तित्व से अधिक सहिष्णु कौन हो सकता है? यह उपलब्धि पाई जा सकती है अभ्यास, लगन, मेहनत और समर्पण से।

जैसे किसी विशेष पथ पर चलकर ही लक्ष्य पाया जाता है, उसी प्रकार मन को विशुद्ध बनाने के लिए विराग ही श्रेष्ठ मार्ग है। विराग का अर्थ - केवल वेष परिवर्तन मात्र नहीं है, अपितु आंतरिक वृत्तियों का रूपांतरण है।

अंतरशुद्धि में बाधा उपस्थित करनेवाले मन के छः दोष होते हैं - विषाद, निर्दय विचार, व्यर्थ कल्पना जाल, भटकाव, अपवित्र विचार, द्वेष या अनिष्ट चिंतन। विषाद का अतिरिक्त मनुष्य को कुंद कर देता है। यदि सामान्य व्यवहार से अधिक विषाद है तो वह विमोह को व्यक्त करता है - अथवा उस विषाद के मूल में जाकर अपने किसी स्वार्थ की प्रतिपूर्ति की भावना को प्रकट करता है। निर्दय विचार, निरंतर विचारों की वह श्रृंखला है जो किसीके प्रति पल-प्रतिपल अशुभ सोच को और अधिक तीव्र बनाती जाती है। उस विचार-श्रृंखला में शुभ विचारों को लगातार निरस्त किया जाता है। वह विचार श्रृंखला एक दुर्विचार रूप हो जाती है और उसका

परिणाम बीभत्स भी हो सकता है। व्यर्थ कल्पना के जाल बुनकर कोई व्यक्ति यह चाह करता है, कि कोई उसमें उलझ जाए और उसके उलझाव से वह व्यक्ति एक आनंद का अनुभव करें। अनेक प्रकार के संशयों से वह उस जाल को बुनते रहने में संलग्न होता है।

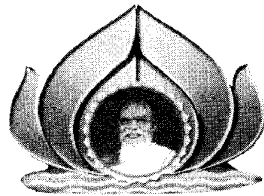
भटकाव के अंतर्गत मनुष्य अनेकों ऊहापोहों में व्यस्त रहता है। वह किसी भी एक निर्णय पर दृढ़ नहीं रह पाता है। उलझावों से विमुक्त होने के लिए वह या तो प्रयास नहीं करता या उसके प्रयास विवेकजन्य नहीं होते। उसे भटकाव के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

विचारों की अपवित्रता एक बड़ा दोष है। इसके अंतर्गत नैतिकता ध्वस्त होती है। अनीतिपूर्ण व्यवहारों में व्यक्ति संलग्न होता है। अप्रत्यक्ष रूप से भी विचार वातावरण में स्थित होकर अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं। कुविचार में निरत व्यक्ति वातावरण से उन अपवित्र विचारों को ग्रहण करता है। जरूरी है कि वातावरण में पूर्ण निर्मलता रहे। द्वेष के वशीभूत व्यक्ति अपने अतिरिक्त प्रत्येक के प्रति अथवा किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अनिष्ट भावना को स्थान देता है। उन भावों के कारण अनिष्ट कार्य भी सम्पन्न हो जाते हैं।

उक्त दोष मन के द्वारा प्रकट होते हैं, अतः मन को, अपने अन्तःकरण को पवित्र रखना आवश्यक है। अनावश्यक रूप से किसी भी संदर्भ को दोष की कालिमा से आवृत करना एक दुष्प्रयास है। अनिष्ट किसीके प्रति भी मन में उपजा हो अंततः वह उसको भी उसी धारा में प्रवाहित करता है। आंतरिक शुद्धि भीतर का भाव है और यह भाव अध्यात्म का आधार है। आत्म कल्याण में प्रवृत्त होने के लिए अंतरशुद्धि की अनन्य साधना को एक पल के लिए भी गौण नहीं करना चाहिए। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' इस कहावत में छुपे यथार्थ का सम्यक्बोध करके मानसिक विकृतियों से निवृत्ति का प्रयास जब चलता है तो शनैः शनैः पूरा जीवन ही सहजता में बदल जाता है।



25—आध्यात्मिक दृष्टि से संयम और तप



25 — आध्यात्मिक दृष्टि से संयम और तप

आध्यात्मिक दृष्टि से संयम और तप का महत्त्व सुनिश्चित है। संयम और तप के प्रति जहां निष्ठा हैं, वहाँ अध्यात्म विकास में अवरोध ठहर नहीं पाते। आगमों में इस आशय की प्रेरक गाथाएं हैं। उत्तराध्ययन सूत्र की एक गाथा है -

**वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिं य !!**

दूसरे वध और बंधन आदि से दमन करे इससे तो अच्छा है कि स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपनी इच्छाओं का दमन करें। अपने आप पर नियंत्रण करनेवाला ही अध्यात्म की अनुभूति करता है एवं लोक तथा परलोक में सुखी बनता है। समरांगण में हजारों शत्रुओं को परास्त करनेवाला कायर है यदि वह अपने आप पर नियंत्रण नहीं पर पाए।

आध्यात्मिक विकास की शुरूआत स्वयं से होती है। स्वयं के सुधरते ही वातावरण सुधरने लगता है। स्वयं का परिष्कार, समूह का परिष्कार है। व्यक्ति का निखार, संपूर्ण समष्टि का निखार है। संयम की आराधना अन्य करें, तप से कोई अन्य जुड़े यह दृष्टिकोण अध्यात्म के क्षेत्र में मान्य नहीं है। प्रमुख एवं बुनियादी बात यह है कि तप से, संयम से, प्रत्येक पवित्र अनुष्ठान से हम स्वयं हार्दिकता पूर्वक जुड़े।

हमारा अपना जुड़ाव ही हमें ऊंचाइयां सौपता है। परमात्मा प्रभु भगवान महावीर का कथन है -

सर्वं अप्पे जिए जियं ।

जिसका अर्थ है, एक अपने विकारों को जीत लेने पर सबको जीत लिया जाता है। आत्महित की अभीप्सा जिसके अंतर में है वह साधक सदैव स्वयं को विनय, विवेक एवं सदाचार में स्थिर रखे संयम और तप से पृथक न बने, कभी भी गुरुजनों के अनुशासन से कुपित एवं क्षुब्ध न बनें ! क्षुद्र जनों के साथ संपर्क, हंसी-मजाक, क्रीड़ा आदि का परित्याग करें, बहुत अधिक न बोले बार-बार चाबुक की मार खानेवाले गलिताश्व अर्थात् अड़ियल या दुर्बल घोड़े की तरह कर्तव्यपालन के लिए बार-बार गुरुओं के निर्देश की अपेक्षा नहीं रखे। कोई दुष्कर्म हो जाए तो उसे नहीं छिपाए, बिना बुलाए नहीं बोले, असत्याश्रय न ले, दूसरों के छल-छिद्र न देखे, किसीको कष्ट न दे, खाने-पीने में मर्यादा रखें। अर्थयुक्त अर्थात् जो सारभूत हो वह ग्रहण करे एवं जो निरर्थक है उसे छोड़ने का अभ्यास करे। ऐसा करने पर स्वयं के जीवन में जो आनंदात्मक अनुभूतियाँ होंगी, वे निसंदेह अभूतपूर्व एवं अनुपम होंगी।

आज जो संकट है वह सारा का सारा संयम हीनता के कारण है। संयम खंडित होते ही समस्याएं बढ़ने लगती हैं। आज यूँ संयम की चर्चाएं चारों ओर हैं, पर यह विडम्बना ही है कि व्यक्ति आज स्वयं अपने जीवन में संयम रखना ही नहीं चाहता। संयम का अर्थ केवल मुनि जीवन नहीं है, अपितु व्यक्ति के जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में आवश्यक विवेक एवं अनुशासन से है। जीवन में संयम की उपेक्षा करना घातक दृष्टिकोण है। धर्म और अध्यात्म का लक्षण संयम है। संयम नहीं है वहां धर्म और अध्यात्म की अवस्थिति नहीं है। आगमों में स्थान-स्थान पर संयम की विशद चर्चा एवं विश्लेषण उपलब्ध होता है। संयम के जो विविध प्रकार बताए हैं उनमें स्पष्ट है हर गतिविधि, हर प्रवृत्ति में संयम अनिवार्य है। हम चाहे बोलते हो, लिखते हो, पढ़ते हो, देखते हो, सोते हो, बैठते हो या उठते हो, घूमते हो, हर प्रवृत्ति संयम मांगती है।

आध्यात्मिक दृष्टि से संयम और तप - 179

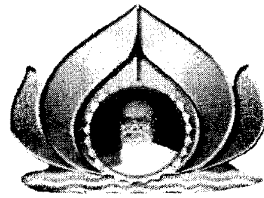
संयम के बल पर अध्यात्म की साधना सहज होती है। आज संयम के प्रति गहरी उपेक्षा के कारण ही परिवेश में विष घुल गया है। संयम की उपेक्षा से जीवन हीनत्व से युक्त हो जाता है। हीनता व्यक्ति को अपने आप से भी उपेक्षित कर देती है। अपने प्रति अवहेलना से व्यक्ति ऐसे जंगलों में उलझ जाता है जो उसके जीवन को दूभर कर देते हैं। अध्यात्म की दृष्टि से संयम का अर्थ आत्मानुशासन होता है। आत्मानुशासन जीवन को संपूर्ण रूप से निखारने वाला तत्त्व है। अपने प्रति अनुशासन का त्याग करने पर व्यक्ति अन्य के शासन में आ जाता है। अन्य से शासित होने पर व्यक्ति शोषित होता है, उस स्थिति में पूरा तंत्र गड़बड़ा जाता है। अतः अनुशासन अर्थात् संयम से अपने जीवन को अलंकृत करना अपने आपको नीतिमत्ता से, अध्यात्म से जोड़ना है।

यह निर्विवाद है कि जो अनुशासन भीतर के विवेक जागरण से आता है वही प्रभावपूर्ण एवं स्थायित्व लिये होता है। संयम और तप के द्वारा निश्चय रूप से अनियंत्रित वृत्तियों पर अंकुश लगाना चाहिए, तभी इन्द्रिय विग्रह, मनः शुद्धि एक चेतना का ऊर्ध्वारोहण सिद्ध हो सकेगा। जो संयमी होता है, उसका जीवन व्यवस्थित होता है। जो व्यवस्थित होता है, वही संतुलित एवं अनुशासित होता है। उसीके अंतर में अध्यात्म की ज्योतिर्मय मशाल प्रज्वलित होती है, उसीके जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि अपरिग्रह की अवस्थिति होती है।

संयम जीवन का आधारस्तंभ है। जिस प्रकार आधारस्तंभ टूटने पर मजबूत से मजबूत भव्य भवन भी गिर जाता है। उसी तरह संयम के अभाव में अंतर की शक्तियों का तेजी से हास होने लगता है। छिद्रों वाली नौका पार नहीं पहुंच सकती, उसी तरह से जिस जीवन में असंयम रूप छेद है, वह संसार सागर में डूब जाता है। संयम और तप एक दूसरे से संबंधित है। इनकी आराधना आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा से भरा उपक्रम है। संयम और तप मनोदैहिक साधना प्रक्रिया है, संयम तप, ऊर्जा नाभिक पर सीधा आघात कर उसे विखंडित करता है। ऊर्जा जब फैल जाती है तो चेतना ऊर्ध्वारोहण की ओर गति करती है, यह गति ही प्रगति का प्रवेश द्वार है।



26—अध्यात्म की उपेक्षा : तनाव का कारण



26 —अध्यात्म की उपेक्षा : तनाव का कारण

आ गम का कथन है -

जो ज्ञायइ अप्पाणं, परमसमाहि हवे तस्स ।

जो आत्मस्वरूप का, अध्यात्म का ध्यान करता है वह आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर परम समाधि भाव को प्राप्त करता है। आज चारों ओर दृष्टिपात करने पर स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि जनमानस आज विविध प्रकार के तनावों से संत्रस्त है। आदमी जी जरूर रहा है, पर जीवन में जिस सुख और शांति का समावेश होना चाहिए, वह नहींवत् है। किसी कवि की पंक्तियाँ बरबस प्रस्तुत लेखन के क्षणों में मेरे मानस के मंच पर उभर आई है -

भोर में थकान है

शोर में थकान है

पोर-पोर में थकान है

आदमी की जिंदगी

एक जलता हुआ मकान है ।

प्रश्न उठता है-इस थकान का, इस टूटन का, इस नैराश्य और हताशा का आखिर कारण क्या है ? गहराई में जाने पर स्पष्ट लगता है, आज मानव मन में जो अशांति और उद्वेगन है, उसके मूल में प्रमुख कारण अध्यात्म की उपेक्षा है। अध्यात्म के प्रति बेदरकारी है। अध्यात्म के प्रति अनास्था है। आदमी जब अध्यात्म से

अपने आपसे कटता है तो उसका समूचा जीवन पीड़ाओं का, समस्याओं का आगार बन जाता है ।

तनाव का जीवन में प्रवेश होते ही सुख चैन और शांति समाप्त हो जाती है । तनावग्रस्त आदमी भीतर ही भीतर घुटन महसूस करने लगता है । तनावों से जो आवृत्त है, वह व्यक्ति कहीं भी रहे, उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है । दफ्तर हो या घर तनाव के कारण उसकी नसे खिंची-खिंची सी रहती है । कभी कभी तो उसे ऐसा लगता है कि सिर में विस्फोट ही हो जाएगा । वैज्ञानिकों के अनुसंधान के पश्चात् स्पष्ट रूप से यह प्रकट हुआ है कि तनाव से रक्तचाप, हृदयगति रूक जाना, पागलपन आदि अनेक बीमारियां जन्म लेने लगती है । तनाव के कारण घर नरक बन जाता है, सभी के साथ टकराव की स्थिति बन जाती है । सड़क पर चलते हुए लगता है कि पीछे आनेवाला हमारा दुश्मन है । कुल मिलाकर जीवन के साथ नकारात्मक दृष्टिकोण हो जाता है और मनुष्य हर जगह कांटों, कांच के टुकड़ों, नशत्रों और तेजाबी आंखों से घिरा रहता है । ऐसा व्यक्ति तन और मन की थकान से निरंतर टूटने लगता है ।

तनावों से ग्रस्त व्यक्ति-स्वस्थ नहीं, अपितु अस्वस्थ होता है । अस्वस्थ वह है जो स्व में स्थित नहीं है । स्व अर्थात् अपने आपमें स्थित होने पर कभी कोई भी तन और मन से नहीं टूटता । अपने आपमें, आत्मा में लीन व्यक्ति की सोच सम्यक् होती है । वह जानता है कि तनावों का कारण, मेरी अपनी बाह्य पदार्थों में, बाह्य वातावरण में अनुरक्ति एवं आसक्ति है । आत्मनिष्ठ, अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति सांयोगिक संबंधों एवं आत्यंतिक संबंधों को ठीक तरह से समझता है । विनाशी और अविनाशी, हेय और उपादेय, मर्त्य और अमर्त्य निज और पर जड़ और चेतन का जिसके पास सही बोध है, वह कभी भी क्षोभ ग्रस्त नहीं होता । अवरोध तभी तक रहते हैं जब तक बोध नहीं होता । किसी मनीषी विद्वान ने एक श्लोक के माध्यम से व्यक्त किया है -

**मानसानां पुनर्योनि, सुखानां चित्त विभ्रमः ।
अनिष्टोपनिपातो वा, तृतीय नोपघते ॥**

अध्यात्म की उपेक्षा : तनाव का कारण - 183

अर्थात् मनुष्य को बार-बार मानसिक दुःखों की प्राप्ति के कारण दो ही हेतु हैं, सुख का भ्रम और अनिष्ट की प्राप्ति। तीसरा कोई कारण संभव ही नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिए कि व्यर्थ के भ्रम और अनिष्ट की चिन्ता से स्वयं को मुक्त करे और अपने आत्मबल को, अध्यात्म चिन्तन को हर परिस्थिति में मजबूत बनाए रखे।

इसके अतिरिक्त अनित्य भावना, अशरण भावना, बोधिदुर्लभ भावना, एकत्व भावना आदि बारह भावनाओं पर शांत स्थिर बनकर मनोयोग पूर्वक चिन्तन भी तनाव को निर्मूल करने में सहायक सिद्ध होता है। अध्यात्मनिष्ठ साधक का चिन्तन स्पष्ट रहता है -

**मैं न किसीका जब यहाँ, मेरा भी है कौन ।
तत्त्व यही एकत्व का, सोचो लेकर मौन ॥**

आध्यात्मिक दृष्टिकोण बनते ही व्यक्ति की हर प्रवृत्ति में अद्भुत संतुलन आ जाता है। आज अध्यात्म चेतना सुषुप्त है इसलिए चारों ओर संकट, क्लेश एवं तनाव है। अध्यात्म चेतना का अर्थ है - मैं अकेला आया हूँ और अकेला ही एक दिन जाऊंगा, जब व्यक्ति के भीतर यह भावना प्रबल हो जाती है, तो अनावश्यक संग्रह, आसक्ति और मोह को पुष्टि नहीं मिलती। कषायों को अवसर नहीं मिलता। वह किसी के प्रति निर्मम नहीं बनता उसकी करुण भावना जागृत हो जाती है। वह किसीके प्रति द्वेष अथवा ईर्ष्या, घृणा से ग्रस्त होने की भूल नहीं करता। वह यह जान जाता है कि जीवन कितना है।

अध्यात्मविहीन बनकर मानव जब आकंठ भौतिकता में निमग्न हो जाता है तो उसका संपूर्ण जीवन तनावों का केन्द्र बन जाता है। अध्यात्मनिष्ठ जीवन में किसी तरह की अपेक्षा या उपेक्षा का भाव नहीं होता। मानसिक शांति भंग तभी होती है जब व्यक्ति अपेक्षा के सूत्र से अपने आपको अनुबंधित करता है। अध्यात्म साधना के क्षेत्र में गतिमान साधक के लिए आगमों में स्पष्ट संसूचन है कि वह साधना कभी भी भौतिक कामनाओं से ग्रस्त होकर न करें। भगवान प्रेम भी यदि किसी कामना से किया जाता है तो वह सकाम कहलाता है। जिसमें कुछ भी चाह जुड़ जाती है उसकी निस्वार्थता समाप्त हो जाती है। उसमें स्वार्थ का पुट आ जाता है। स्वार्थ के समावेश से कामना

में सौदेबाजी शुरू हो जाती है। उपलब्धि व अनुपलब्धि की गणना शुरू हो जाती है और इससे तनाव अभिवृद्धि ग्रहण करते हैं।

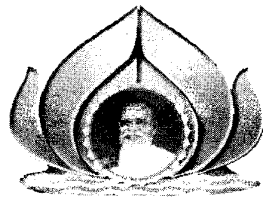
दोहरा व्यक्तित्व भी तनावों की संरचना करता है। दोहरा व्यक्तित्व, अध्यात्म से जुड़ने के पश्चात् दोहरा नहीं रहकर एकत्व का, अखंडता का स्वरूप ले लेता है। अध्यात्म की विशुद्धता, दिव्यता एवं अनन्यता नष्ट न हो, यह जागरूकता नितांत आवश्यक है। यदि वह जागरूकता नहीं रही तो संतुलन की स्थापना नहीं हो सकती है। तब दृष्टिकोण की संकुचितता भी कायम रहेगी। संकल्प तब सध नहीं सकते हैं। जब विकल्पों की ऊहापोह में व्यक्ति अपने को उलझा कर मंत्रणा पाता है। जब जीवन में प्रवंचनाओं का अतिरेक होने लगता है। विडम्बनाएं आ जाती हैं। जीवन की सार्थकता समाप्त हो जाती है। तब अध्यात्म की स्मृति होती है, तब का यह जागना विलम्ब से जागना होता है, फिर साधना दुष्कर होती है।

पुनः स्पष्ट करना चाहता हूँ कि असंतुलन, तनाव एवं विभिन्न प्रकार की कर्कशताएं जो दिखाई देती हैं, वे आध्यात्मिक शून्य भौतिक दृष्टिकोण की उपज हैं। अंतर बाह्य तनाव मुक्ति एवं सफलता अर्जित करने के लिए आवश्यक है कि हम अपनी चिंतन-शैली अध्यात्म से जोड़े। अध्यात्म की साधना, अध्यात्म की खोज व्यक्ति को अपने स्तर से ऊंचा उठाती है। ज्यों ज्यों वह अध्यात्म की गहराई में डूबकी लगाता है, भौतिकता-व्यर्थ लगने लगती है। एकांततः भौतिकता में आकण्ठ डूबकर तनावों को बढ़ाकर अपनी शक्ति को नष्ट नहीं करना चाहिए। जितना हमारा मन अध्यात्मोमुखी होगा, जीवन उतना ही सुखी बनेगा।





27—अध्यात्म विकास के दो पहलू : व्यवहार और निश्चय



27—अध्यात्म विकास के दो पहलू : व्यवहार और निश्चय

अध्यात्म जीवन विकास के दो पहलू हैं व्यवहार और निश्चय । जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को ज्योतिर्मय करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले व्यावहारिक पक्ष को ज्योतिर्मय एवं उज्ज्वल बनाया जाए । यह तथ्य है कि जिसका व्यवहार ठीक है उसका निश्चय अंततः ठीक बन जाता है । व्यवहार के पक्ष को एकान्तः नकारना किसी भी दृष्टि से उपयुक्त नहीं है ।

जैनागमों में साधक जीवन के दो प्रकार बताए गए हैं । “तंजहा आगारे धम्मे, अणगार धम्मे ।” आगार धर्म और अणगार धर्म अर्थात् श्रावक धर्म और श्रमण धर्म । यह स्पष्ट है कि श्रावक धर्म हो अथवा श्रमण धर्म दोनों के लिए जीवन जीने की एक व्यवस्थित पद्धति दी गई है । जीवन अंधाधुंध रूप से जीने का नाम नहीं है । व्यवस्थित, मर्यादित एवं संतुलित ढंग से जीवन जीकर के ही लक्ष्य को पाया जा सकता है । यह एक वास्तविकता है कि व्यावहारिक जीवन की सुदक्षता एवं कुशलता आध्यात्मिक जीवन की बुनियाद है ।

जैन दर्शन में जीव के नैतिक विकास की प्राथमिक शर्त है - यथार्थ का बोध, यथार्थ ज्ञान एवं यथार्थ आचरण, इन तीनों का समन्वय, इन तीनों की एकरूपता ही नैतिक विकास के मार्ग

को प्रशस्त करती है। जिसका नैतिक मार्ग प्रशस्त है, उसका आध्यात्मिक मार्ग भी प्रशस्त है। आचारांग सूत्र का प्रारंभ जीव के नैतिक विकास के सूत्र से होता है। प्रस्तुत आगम जीव के नैतिक विकास की यात्रा एवं आध्यात्मिक परंपरा की कहानी है। यह निर्वाण मार्ग, मोक्ष मार्ग को भी प्रशस्त करता है।

नैतिकता का गूढार्थ है - आत्मसत्ता के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि। स्व-स्वरूप की उपलब्धि के बाद जीवनदृष्टि तदरूप बनती है। स्वच्छ, विशुद्ध, आचरण नैतिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। सम्यक् आचरण का अर्थ है-काम क्रोध, छल, कपट आदि अशुभ वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से दूर रहना। जीवन में अधिकाधिक सद्गुणों का सम्पादन एवं दुर्गुणों एवं विकृतियों से अलगाव इस दृष्टि से पौर्वात्य एव पाश्चात्य नीति विज्ञान भी सहमत है। नैतिकता का विकास यह सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में समत्व का संस्थापन है। नैतिक समता का अर्थ है - चरित्र का दृढ़ निर्माण, निम्न आवश्यकताओं का नियमन एवं पाशविक प्रवृत्तियों पर जागरूकता पूर्वक नियंत्रण।

आज दुर्व्यसनों के प्रति तेजी से लगाव बढ़ रहा है जो निश्चित रूप से घातक है। जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी एवं परस्त्रीगमन आध्यात्मिक विकास में तो अवरोधक है ही परन्तु ये दुर्व्यसन नैतिक, शारीरिक मानसिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय हितों के विकास में बाधक तत्त्व है। भूमिका ही यदि विशुद्ध नहीं है तो अव्यवस्थित भूमिका में अध्यात्म का बीज भला किस तरह अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित हो सकता है। उस जीवन का कोई मूल्य महत्त्व नहीं है जिसमें नीति का समावेश नहीं है। एक कवि ने तो यहाँ तक कह दिया -

**जीओ नीति से जो जीना है,
वरना जीना योग्य नहीं है।**

हमारे यहाँ पर पूणिया श्रावक का यह प्रसंग विश्रुत है। पूणिया श्रावक एक बार अपने पौषध कक्ष में धर्मसाधना आराधना में संलग्न थे। उन्हें धर्मसाधना के क्षणों में पूरी रात अत्यंत मानसिक चंचलता का अनुभव हुआ। बार-बार प्रयत्न प्रयासों के

अध्यात्म विकास के दो पहलू : व्यवहार और निश्चय - 189

बावजूद भी उनका मन आध्यात्मिक चिंतन में एकाग्रता ग्रहण नहीं कर पाया । प्रातःकाल जब उन्होंने निवृत्त होकर सारी स्थिति अपनी धर्म पत्नी के समक्ष रखी तो पत्नी ने स्पष्ट किया कि कल शाम को मैंने जो भोजन तैयार किया, उस समय चूल्हा जलाने के लिए पड़ोसी के इंधन का उपयोग उससे बिना पूछे कर लिया । तथ्य को समझते हुए तनिक भी देरी नहीं लगी, बिना पूछे इंधन का प्रयोग भी इतनी गड़बड़ी यदि कर सकता है तो जो अनीति से उपार्जन करके, अपने जीवन में उसका उपयोग प्रयोग करते हैं, उनके जीवन में आध्यात्मिक विकास एवं प्रशांति की अनुभूति किस तरह संभव है ?

योगशास्त्र मे मार्गानुसारी के ३५ गुणों का उल्लेख है उनमें जो प्रथम सूत्र है वह न्यायसंपन्न विभव है । इसके बाद शिष्टाचार प्रशंसकता, विवाह संबंध विवेक, पाप भीरु प्रसिद्ध देश आचार का पालन, अवर्णवादी न होना, आदर्श घर, सदाचारी व्यक्तियों की संगति, मातपिता की सेवा, उपद्रवग्रस्त स्थान का त्याग, निंदनीय प्रवृत्ति का त्याग, आय-व्यय का संतुलन, वित्तीय स्थिति के अनुसार वेशभूषा, बुद्धि के आठ गुणों का स्वामी, धर्म श्रवण, आहार विवेक, समय पर भोजन करना कर्म मर्यादित अर्थकाम सेवन, अतिथिसत्कार, अनिभिनिवेशता गुणानुराग, देशकालोचित आचरण, सामर्थ्यासामर्थ्य की पहचान, ब्रती एवं ज्ञानीजनों की सेवा, उत्तरदायित्व का निर्वहन, दीर्घदर्शिता, विशेषज्ञता, कृतज्ञता, लोकप्रियता, सलज्जता, सदयता, सौम्यता, परोपकार, अंतरंग शत्रु का त्याग एवं इन्द्रिय निग्रह ये गुण गृहस्थ की व्यावहारिक नीति के सूत्र है ।

उपासकदशांगसूत्र में भी श्रावकों की नैव्यिक चर्या का वर्णन है । अन्यस्थानों पर भी श्रावक के आध्यात्मिक व्यावहारिक एवं नैतिक चर्या का सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन मिलता है । श्रावक या उपासक जीवन में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों का सांमजस्य रहता है । इसी आधार पर सभी ब्रतों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है - अणुब्रत, गुणब्रत और शिक्षाब्रत । यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उपासकदशांग आदि आगमों में पांच अणुब्रत एवं सात शिक्षाब्रत रूप प्रस्तुत ब्रतों के दो विभागों का उल्लेख मिलता है । प्रथम पांच का संबंध सामाजिक सदाचार से है । द्वितीय विभाग में

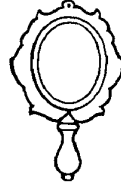
तीन गुणव्रत जिनका संबंध दैनंदिन व्यवहार एवं जीवन उपयोगी वस्तुओं के साथ है। तृतीय विभाग का संबंध आत्म साधना एवं आत्म विशुद्धि से है।

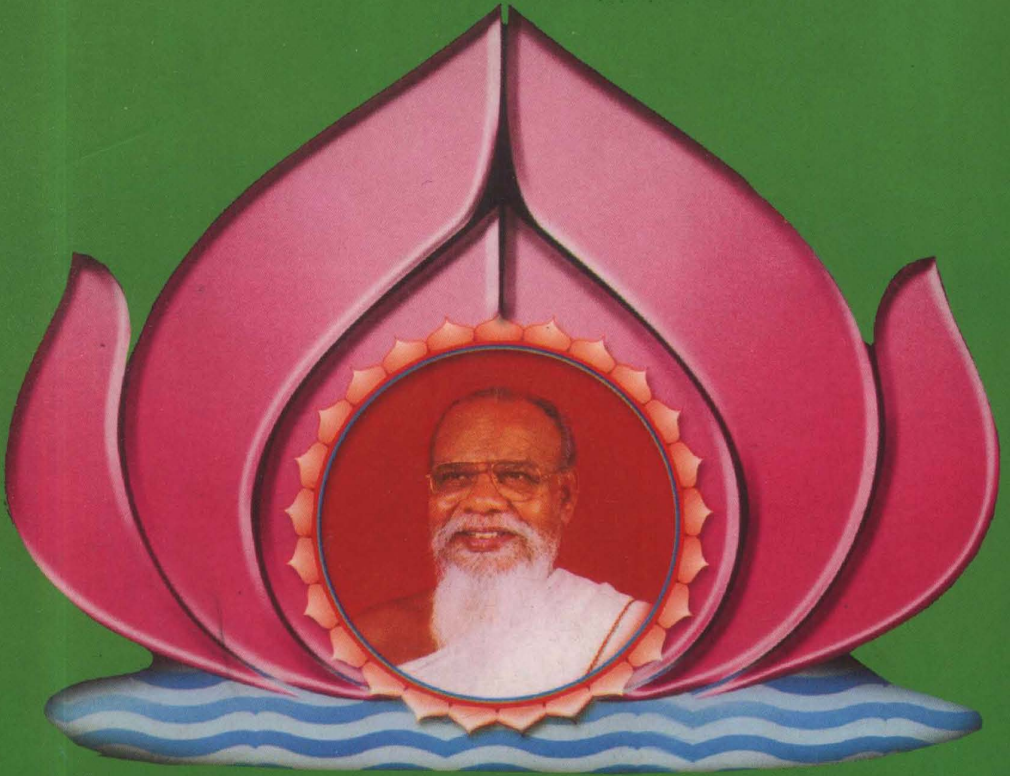
अणुव्रत पांच है - स्थूल हिंसा का त्याग, स्थूल असत्य का त्याग, स्थूल चोरी का त्याग, स्वदार-संतोष-परदार-विवर्जन, परिग्रह परिमाणव्रत। सर्व प्रथम श्रावक आचारनीति में दोष विरमण अर्थात् निषेध रूपशील का विधान है जिसे अणुव्रत के रूप में गृहस्थ अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए स्वीकार करता है। दिशा परिमाणव्रत इसमें प्रवृत्तियों का क्षेत्र मर्यादित किया जाता है। उपभोग परिभोग परिमाण व्रत वैयक्तिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण है। अनर्थ दण्डव्रत में वैयक्तिक हलचल एवं शारीरिक निरर्थक चेष्टाओं पर अनुशासन का विधान है। सामायिक व्रत एक आध्यात्मिक साधना है। कुछ समय तक साधक इससे शुभ भावों से ओतप्रोत रहता है। देश-अवकाशिकव्रत में निश्चित क्षेत्र की सीमा से बाहर प्रवृत्ति नहीं की जाती, यह धार्मिक अनुष्ठानों का व्रत है। पौषध उपवास व्रत में साधक चौबीस घंटे तक व्रत में रहकर जीवनशैली का निरीक्षण करता है। स्वयं की कमजोरियों को जानना एक बहुत बड़ा नैतिक आचरण है। इसमें शुभ से परम शुभ की ओर प्रयाण का मार्ग प्रशस्त होता है।

अतिथि संविभाग व्रत का नैतिक विकास की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। यह संविभाग सम्यक् प्रकार से वितरण का व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक रूप है। अपनी न्यायोपार्जित आय में से अतिथि की आहार आदि अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी इसीमें समाविष्ट है। जीवन विकास के इन साधक सूत्रों में निवृत्ति एवं प्रवृत्ति दोनों दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। भगवान महावीर का कथन है - असंयम से निवृत्त बनों एवं संयम में प्रवृत्ति करो। असंयम समत्व से विचलन का पथ है। संयम विकास का मार्ग है। नैतिक, व्यावहारिक विकास के सोपानों पर क्रमशः आरोहण करने वाला गृहस्थ, उपासक एक दिन नैतिकता के ऊंचे सोपान पर पहुंचता है, जहां उसे नैतिकता के चरम उत्कर्ष की समतल भूमि मिलती है और वहाँ से वह परम शुद्ध की स्थिति, अध्यात्म की, परमार्थ की सर्वोच्च ऊंचाईयों को प्राप्त करता है।

अध्यात्म विकास के दो पहलू : व्यवहार और निश्चय - 191

इसी तरह श्रमणसाधक के लिए सत्ताइस गुणों का सम्यक् विकास आवश्यक है। सत्ताइस श्रमण नीतियों गुणों का उल्लेख समवायांगसूत्र में मिलता है। पांच महाव्रत, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषाय विवेक, तीन सत्य, खंति क्षमा, विरागता, मन समाधि, वचन समाधि, काय समाधि, ज्ञान संपन्नता, दर्शन संपन्नता, चारित्र संपन्नता, वेदना अधिसहन, मारणांतक अधिसहन। इसी तरह दिगम्बर परंपरा में अठाईस गुणों के पालन का उल्लेख इस रूप में है - पांचमहाव्रत, समिति इन्द्रिय विजय, आवश्यक केशलुंचन, अचेलकता, अस्नानता, भूशैया, स्थिति भोजन, अदन्तधावन, एक भुक्ति। श्रमणजीवन के ये अनुशासित सूत्र है जो आध्यात्मिक विकास के साधकतत्त्व है तथा नैतिक व्यावहारिक विकास की अंतिम मंजिल है। इन व्रतों की पुष्टि के लिए दस धर्म, बारह भावनाओं का अनुचिंतन, परिषह जय, बारह प्रकार के तप का अनुष्ठान, मैत्री आदि भावों का अनुप्रेषण भी आवश्यक है। बातों एवं कल्पनाओं से आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है। हार्दिकता पूर्वक विशुद्ध अध्यात्मिक अनुष्ठानों से संलग्न बन कर गतिशील बनने पर ही आध्यात्मिक विकास संपादित होता है।





मैं सभी का हूँ, सभी मेरे है। प्राणीमात्र का कल्याण मेरी हार्दिक भावना है।
 मैं किसी वर्ग, वर्ण, समाज या जाति के लिए नहीं अपितु सबके लिए हूँ
 व्यक्ति-राग में मेरा विश्वास नहीं है। लोग वीतराग परमात्मा के बतलाये पथ
 पर चलकर अपना और दूसरों का भला करे यही मेरी हार्दिक शुभेच्छा है।



अष्टमंगल फाउण्डेशन
कोबा (गुजरात)